हिंदी-काव्य में प्रकृति

लेखक

रामचन्द्र श्रीवास्तव

एम० ए०, एल० टी०, एल-एल० बी०

प्रकाशक

सरस्वती-मंदिर

बनारस ।

प्रथम बार] १६४८ [मूल्य २)

समर्पण

श्रद्धेय गुरुवर

स्वर्गीय आचार्य

पं० रामचन्द्र शुक्ल की

दिवंगत आत्मा को

'तेरा तुमको सौंपते क्या लागे है मोर'

अपनी बात

अपने वर्तमान रूप में यह पुस्तक आज से आठ वर्ष पहले १६३६ में ही, लिखी जा चुकी थी। शुभचिन्तकों ने इसे प्रकाशित कराने का आग्रह किया। परन्तु मेरी दृष्टि में पुस्तक में अनेक त्रुटियाँ थीं और वह अपूर्ण थी। स्थूल रूपरेखा पूर्ण होते हुए भी उसे पल्लवित करने की आवश्यकता थी। अतः मैंने इसे सर्वाङ्गपूर्ण कर लेने पर ही प्रकाशित कराने का निश्चय किया। परन्तु अनेक कारणों से—जिनमें आलस्य, अवकाशाभाव, साहित्यिक वातावरण से दूरी, पुस्तकों का अभाव, अस्वस्थता आदि हैं—यह कार्य बराबर स्थगित होता रहा।

१६४४ में मेरे अध्यापक डाक्टर जगन्नाथप्रसाद शर्मा (हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी) ने इसे प्रकाशित कराने के लिए कहा। अतः मैंने भी यह समझ कर कि कदाचित् मैं अब इसे परिवर्तित, परिवर्द्धित बिलम्ब से कर पाऊँ, उनकी बात मान ली और इसे ठीक-ठाक करके प्रकाशित कराने का भार उन्हीं को सौंप दिया। किन्तु किसी कारणवश वे उसे न कर पाए और यह उन्हीं के पास पड़ी रह गई।

१६४६ में यही विषय लेकर मैंने लखनऊ विश्वविद्यालय में पी० एच्० डी० के लिए शोध-कार्य आरम्भ किया। सब सामग्री एकत्र हो चुकी थी। मैंने लिखने में हाथ भी लगा दिया था और लगभग दो प्रकरण लिख भी चुका था कि अचानक मुझे शोध-कार्य स्थगित करना पड़ा। इसी बीच में मुझे यह भी पता चला कि इसी विषय को लेकर अन्य विश्वविद्यालयों में भी कार्य

हो रहा है। मनोनुकूल रूप-रेखा के अनुसार पुस्तक प्रस्तुत करने में अधिक विलंब की संभावना थी। अतः मैंने यही निश्चय किया कि पुस्तक को उसी पुरातन रूप में प्रकाशित करा दिया जाय।

एक बात की व्याख्या कर दूँ। पुस्तक में स्थान स्थान पर उद्धरण चिह्न मिलेंगे। इन उद्धरणों के उद्गम-स्थान का उल्लेख सर्वत्र मैंने नहीं किया है। अधिकांश उद्धरण सर्वविदित हैं। साहित्यालोचक मात्र उन्हें जानते हैं। अन्य इतने छोटे हैं कि उनके उल्लेख की मैंने आवश्यकता नहीं समझी। पदे पदे टिप्पणी देना मुझे अच्छा नहीं लगता।

मौलिकता का दावा मैं नहीं करता। मैं यह नहीं कह सकता कि इस विषय पर जो कुछ कहा जा सकता था कह दिया गया है अथवा जितनी दृष्टियों से विचार हो सकता था, हो गया है। प्रस्तुत विषय पर एक भी पुस्तक न देखकर मैंने केवल एक संबद्ध विचारधारा तथा स्थूल वर्गीकरण उपस्थित कर दिया है। इसमें अनेक त्रुटियाँ हैं, जिनसे मैं स्वयं परिचित हूँ। यदि पुनर्मुद्रण का अवसर आया तो आशा है कि अधिक पूर्ण तथा सविवरण प्रबंध उपस्थित कर सकूँगा।

यह प्रबंध मैंने श्रद्धेय गुरुवर स्वर्गीय आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल की देखरेख में लिखा था। अतः इसपर उनके विचारों और भावों की पूर्ण छाप होना आवश्यक तथा अवश्यम्भावी है। आलोचनात्मक साहित्य में मेरे ऊपर उन्हीं का प्रभाव सर्वाधिक पड़ा है। उनकी दिवंगत आत्मा के प्रति मैं अपनी कृतज्ञ श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

संस्कृत-साहित्यवाला अंश लिखने में मुझे अपने श्रद्धेय गुरुवर आचार्य पंडित केशवप्रसाद मिश्र, वर्तमान अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, काशी विश्वविद्यालय से पूरी सहायता मिली है।

अपने निजी पुस्तकालय से पुस्तकें देकर भी उन्होंने मुझपर कृपाभाव प्रदर्शित किया है। उनका मुझपर सदैव अनुग्रह रहा है और इसे मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ।

इस प्रबंध की रूप-रेखा प्रस्तुत करने में तद्विषयक समुचित परामर्श देने में तथा प्रबंध को सुनकर संशोधित करने में श्री कृष्णानन्दजी, प्रिंसिपल, डी० ए० वी० कालेज बनारस, ने अपना अमूल्य समय देकर पूर्ण सहायता की है। साहित्यिक विषयों पर उनके गंभीर तथा विस्तृत अध्ययन-मनन से मैं पूर्ण सहायता लेता रहा हूँ और वे मुझे निरंतर प्रोत्साहित करते रहे हैं। मैं उनका आभार मानता हूँ।

आदरणीय पंडित विश्वनाथप्रसादजी मिश्र, (अध्यापक, हिन्दी विभाग, काशी विश्वविद्यालय) निरंतर मुझे इस पुस्तक को प्रकाशित करा देने के लिए उकसाते रहे। पुस्तक को सर्वाङ्ग-पूर्ण बनाने के लिए उन्होंने मुझे अनेक अमूल्य परामर्श भी दिए। प्रकाशन की शीघ्रता में मैं उनसे समुचित लाभ न उठा सका। यदि द्वितीय संस्करण का दिन आया तो मैं उन परामर्शों का पूर्ण उपयोग कर सकूँगा। पुस्तक के प्रकाशनकाल में भी उन्होंने उसे देखकर तथा यथास्थान सुधार कर सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया है। केवल धन्यवाद से उनका आभार नहीं कम होता। उनकी मुझपर सदैव कृपा रही है।

प्रकाशन का प्रबंध करने, तथा प्रकाशकों से बातचीत करने में मेरे अनन्य सुहृद् भाई शिवनारायण, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, जायसवाल कालेज, मिर्जापुर, का पूरा हाथ रहा है। यदि वे प्रयत्न न करते तो कदाचित् पुस्तक इतने शीघ्र प्रकाशित न हो सकती। मेरे जीवन-पथ की विषमताओं को वे सदैव सम करते आए हैं। कृतज्ञता-ज्ञापनमात्र से ही उनसे उऋण नहीं हो सकता।

अन्त में सरस्वती मंदिर के अध्यक्ष मेरे धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने कागज-कठिनाई के इस युग में भी इसे प्रकाशित करने का भार ग्रहण किया।

अपने वर्तमान रूप में यदि इस पुस्तक से हिन्दी-साहित्य का कुछ भी लाभ हुआ तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा।

बाराबंकी (अवध)
२२-१-४८

रामचन्द्र श्रीवास्तव

हिन्दी-काव्य में प्रकृति

प्रथम प्रकरण

काव्य और प्रकृति का सम्बन्ध

काव्य को परिभाषा द्वारा पहचानने और परखने के प्रायः सब प्रयत्न आज तक विफल ही रहे हैं। प्राच्य और पाश्चात्य अनेक विद्वानों, कलापारखियों तथा साहित्यकारों ने काव्य की श्रमसाध्य परिभाषाएँ दी हैं परन्तु कोई भी आज तक दोष-रहित और सर्वमान्य न हो सकी। कारण यह है कि परिभाषा करना परिमित करना है। जो वस्तु जितनी ही व्यापक होती है उसकी परिभाषा उतनी ही असम्भव। थोड़े से शब्दों के घेरे में उसे बन्द नहीं किया जा सकता। ईश्वर, प्रेम, जीवन, जगत् आदि की इसी व्यापकत्व के कारण कोई परिभाषा आज तक नहीं हो सकी। यही बात काव्य के सम्बन्ध में भी है। काव्य का व्यापकत्व भी जीवन और जगत् का व्यापकत्व है। ईश्वर, प्रेम, जगत् और जीवन के समान काव्य भी अनुभवगम्य है, बोधगम्य नहीं। काव्य को अनुभव द्वारा पहचानने की मनुष्य में एक स्वाभाविक भावना होती है जिसके कारण वह किसी वस्तु को सुन्दर और काव्यमय कर उठता है। परन्तु इस भावना की भाषा में अभिव्यंजना करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। फिर भी विद्वानों और साहित्यकारों ने इसी अनुभूति के लक्षणों

काव्य का स्वरूप

पर काव्य के स्वरूप का निर्देश किया है।

भारतीय काव्य-शास्त्रियों ने काव्य में रस ही मुख्य माना है। उनके अनुसार रसोद्रेक करना ही कविता का प्रधान गुण है। साहित्य-दर्पणकार ने रसात्मक वाक्य को ही काव्य कहा है।[१] पण्डितराज जगन्नाथ 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द' को काव्य मानते हैं[२]। इससे भी रसों की ही प्रधानता सिद्ध होती है। रमणीय का अर्थ है जिसमें मन रम जाय, लीन हो जाय। और मन की यह दशा पूर्ण रसोद्रेक होने पर ही होगी।

रसों के उद्रेक का स्थान हृदय है। अतः काव्य का सीधा संबंध हृदय से होता है। मनुष्य प्रायः अपने भौतिक स्वार्थों में लिप्त रहता है। उसे अपने ही हानिलाभ, सुखदुःख, हर्षशोक, कल्याणकष्ट से अवकाश नहीं मिलता। अतः संसार के समस्त रूप-व्यापार उसे इन्हीं भावनाओं से रंजित दृष्टिगोचर होते हैं। उन्हें वह अपने शुद्ध रूप में नहीं देख पाता। इस प्रकार उसका हृदय बँधा रहता है। परन्तु कभी-कभी वह अपनी इस भौतिकता को, इन रूप-व्यापारों के सामने विस्मृत कर देता है। उस समय उसका हृदय जैसे कारा से उन्मुक्त हो जाता है। यही अवस्था विशुद्ध अनुभूति की अवस्था है, यही हृदय की मुक्ति है और पारिभाषिक शब्दों में यही रसात्मक है। मानव हृदय को इसी मुक्तावस्था में लाने के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द-योजना करती आई है वही कविता है। दूसरे ढंग से इसे ऐसे कह सकते हैं कि कवि-हृदय पर बाह्य अथवा अन्तर प्रकृति के नाना रूप व्यापार जो प्रभाव डालते हैं उसकी सरस और संवेदनीय अभिव्यञ्जना ही काव्य है। इसी बाह्य और अन्तर प्रकृति के कूलों

---

१ वाक्यं रसात्मकं काव्यम्।

२ रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्।

में ही काव्य-सरिता का रूप स्पष्ट होता है।

पाश्चात्य विद्वानों ने बाह्य और अन्तर प्रकृति के अनुरूप ही दो सत्ताएँ मानी हैं। अपने से पृथक् जितनी सत्ताएँ हैं उन्हीं का सामूहिक नाम संसार है। उनके अनुसार हम संसार का ज्ञान दो प्रकार से प्राप्त करते हैं। एक निश्चित अथवा नियत क्षण में संसार का केवल एक विशेष भाग ही हमारी इन्द्रियों के सम्मुख आता है और उन्हें प्रभावित करता है। इनका हमें प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इस विशेष भाग के अन्तर्गत चर और अचर मूर्त पदार्थ ही हो सकते हैं। यह एक प्रकार का अनुभव हुआ और इसी को वे जगद्दर्शन की बाह्य दृष्टि कहते हैं। जिन सत्ताओं का ज्ञान हमें इस प्रकार प्राप्त होता है वे बाह्य सत्ताएँ कहलाती हैं। स्पष्ट है कि इनका अस्तित्व हमसे पृथक् होगा जैसे पुस्तक, लेखनी, गृह, द्वार, सुगन्ध, वायु, जल आदि।

बाह्य और आन्तर सत्ताएँ तथा दृष्टियाँ

दूसरे प्रकार का ज्ञान हमें मानसिक बिम्बों द्वारा होता है। हमारे मानस में बराबर कुछ बिम्ब आया जाया करते हैं। कभी तो इनका सम्बन्ध बाह्य सत्ताओं (मूर्त पदार्थों) से होता है और कभी उनका स्वतन्त्र अस्तित्व होता है। यह दूसरे प्रकार का अनुभव हुआ। इसी को जगद्दर्शन की अन्तर्दृष्टि कहते हैं। इसी को हम मानस कक्ष कह सकते हैं। इस प्रकार की अनुभूत सत्ताएँ आन्तरसत्ताएँ कहलाती हैं। इनका अस्तित्व हमारे अन्तस् में ही होता है। वे हमसे ही उत्पन्न और हममें ही लीन होती हैं। उनका कोई गोचर-रूप नहीं होता और उनका अनुभव हमें मस्तिष्क, हृदय अथवा कल्पना द्वारा होता है। इनके उदाहरण राग, मनोवेग भाव, विचार, कल्पना चित्र आदि हैं।

काव्य में इसी आन्तर अथवा मानस कक्ष का उपयोग होता है क्योंकि संसार का अधिकांश अनुभव हमें अन्तर्दृष्टि द्वारा ही प्राप्त होता है। बाह्य दृष्टि की सीमा है—गोचर वस्तुएँ। लिखते समय लेखक का तत्कालीन भौतिक ज्ञान कमरे की दीवारों, उसके भीतर की वस्तुओं, अथवा खिड़की द्वारा दिखाई देनेवाली दृश्यावली, मकानों, वृक्षों, पथिकों—तक ही परिमित है। पर यदि वह इनसे ध्यान हटाकर अपने मानस कक्ष का अन्वेषण करे तो उसके विचारों की परिधि में समस्त संसार और कालों की सत्ताओं का अनुभव आ सकता है। इस अन्तर्दृष्टि से हम अपने पूर्व अनुभवों एवं दूसरों के भी अनुभवों का उपयोग कर सकते हैं।

प्रकृति बाह्य सत्ता है। यों काव्य में अन्तःप्रकृति का भी उपयोग होता है और बहुत होता है, पर यहाँ हमें इसी बाह्य प्रकृति से काम है। वन, पर्वत, नदी, निर्झर, आकाश, नक्षत्र, ऋतु इत्यादि गोचर वस्तुएँ हैं। इनका ज्ञान हम प्रत्यक्षानुभव द्वारा प्राप्त कर सकते हैं।

मनुष्य जाति के वन्य और ग्रामीण दोनों ही प्रकार के जीवन पुराने हैं। दोनों ही मैदान, पर्वत, पेड़-पौधे, नदी, झरने, पशु, पक्षी आदि के बीच व्यतीत किए जाते हैं। प्रकृति अनादिकाल से चली आ रही है। वन्य जीवन में मनुष्य की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति प्रकृति से ही होती थी। भोजन, वस्त्र, निवास सबके उपकरण प्रकृति से ही प्राप्त थे। क्षुधार्त मानव कन्द, मूल, फल अथवा वन्य पशुओं का आहार करता था। तृष्णा निवारणार्थ नदी निर्झर उपस्थित थे। वस्त्रों के लिए तरुपत्र तथा वल्कल उपलब्ध थे। गृह-निर्माण तरुशाखाओं और पत्रों द्वारा होता था। वन्य से ग्रामीण जीवन होने पर भी हल-बैल, खेत, झोपड़ी आदि

मनुष्य और प्रकृति का संबंध

में प्रकृति का साहचर्य था। इस प्रकार प्रकृति से सारा संबंध सनातन है, अनादिकाल से चला आ रहा है। प्रकृति सदैव हमारी सहचरी रही है। वन, आकाश, समुद्र, नदी, नाले, लताएँ, झाड़ियाँ फूल, मेघ आदि हमारे ऐसे ही चिरसहचर हैं। इसी प्रकार घटाओं का घिरना, बिजली का चमकना, पानी बरसना, बाढ़ आना, कुहरा छाना, पतझड़ होना, आँधी चलना, पक्षियों का कलरव, हिरनों की चौकड़ी आदि व्यापारों का भी हमारे साथ अत्यन्त प्राचीन साहचर्य है।

वर्तमान युग सभ्यता का है। मानव जाति का वह रूप, जिसमें वह प्रकृति के पालने में झूमता था और प्रकृति द्वारा ही पोषित होता था, अब असभ्य समझा जाता है। सभ्यता के साथ ही जीवन की जटिलता भी बढ़ गई है। हम वृक्ष-लताओं और पशु-पक्षियों से नाता तोड़कर नगरों में रहते हैं। स्वार्थ-साधन ने हमें ऐसा जकड़ रखा है कि हमको प्रकृति की ओर दृष्टिपात करने का भी अवकाश नहीं है। फिर भी पूर्वसंस्कार दृढ़ बिना पशु-पक्षी और वृक्ष-लता के हम रह नहीं पाते। हम गमलों और पार्कों, पिंजड़ों और अजायबघरों द्वारा अपने इस अभाव की पूर्ति करते हैं। यद्यपि कृत्रिम और स्वाभाविक के अन्तर को हम मिटा नहीं सकते, क्योंकि एक में उल्लासप्रद विशालता है और दूसरे में क्षुद्रता, फिर भी किसी न किसी प्रकार उसका आभास हम प्राप्त कर ही लेते हैं।

"हमारा साथ उनसे भी छोड़ते नहीं बनता। कबूतर हमारे घर के छज्जों में सुख से सोते हैं। गौरे हमारे घर के भीतर आ बैठते हैं, बिल्ली अपना हिस्सा या तो म्याऊँ म्याऊँ करके माँगती है या चोरी से ले जाती है, कुत्ते घर की रखवाली करते हैं और वासुदेव जी कभी कभी दीवाल फोड़ कर निकल पड़ते हैं। बर-

सात के दिनों में जब सुर्खी चूने की कड़ाई की परवा न करके हरी हरी घास पुरानी छत पर निकल पड़ती है, तब मुझे उसके प्रेम का अनुभव होता है। वह मानों हमें ढूँढ़ती हुई आती है और कहती है कि तुम मुझसे क्यों दूर दूर भागे फिरते हो"। [१]

मनुष्य किसी भी अवस्था में प्रकृति से दूर नहीं रह सकता। मनुष्य मात्र की दो ही अवस्थाएँ होती हैं—प्रवृत्ति और निवृत्ति। दोनों ही दशाओं में प्रकृति की प्रधानता है। संसार-रत मनुष्य अनन्त आकाश, मेघ, नक्षत्र, वर्षा, ग्रीष्म, शीत, पशु, पक्षी आदि से भागकर कहाँ जा सकते हैं? संसार-त्यागी मनुष्य—साधु, सन्यासी, ऋषि, तपस्वी आदि—भी इनसे नहीं बच सकते। इतना ही नहीं विरत मनुष्य और भी अधिक प्रकृति की गोद में चला जाता है। वह वन, पर्वत आदि के समान कोई निर्जन स्थान चाहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य और प्रकृति का सबंध सहज और अटूट है। अतः मनुष्य पर प्रकृति का प्रभाव तो एक सनातन सत्य है।

मनुष्य पर प्रकृति का प्रभाव

प्रकृति का यह प्रभाव हमारे ऊपर मुख्यतः उसके सौन्दर्य द्वारा पड़ता है। उसके द्वारा प्रभावित होना मनुष्यता का परिचय देना है। उसकी सुन्दरता पर मुग्ध न होनेवाला सहृदय नहीं कहला सकता। सहृदयता ही श्रेष्ठ गुणों की द्योतिका है। लहलहाते हुए मरकत वर्ण खेतों और वन-स्थलियों, चिकनी अमल शिलाओं पर गिरते हुए रजत जल-प्रपात, झुककर तीर के नीर को चूमती हुई डालों पर ध्वनिमयी विविधा विहगावली, सशाद्वला भूमि में वक्राकार पड़ते हुए नालों, मुकुलित अमराइयों पर कोकिल की तानों, खिले हुए पुष्पों

१ काव्य में प्राकृतिक दृश्य, चिंतामणि दूसरा भाग, पृष्ठ ११।

की दीपावली को देखकर मानव मन अपनी लौकिक सत्ता अवश्य भूल जाता है। काले मेघ जब अपनी छाया डालकर चित्रकूट के पर्वतों को नीलवर्ण कर देते हैं, तब नाचते हुए नील-कण्ठों को देखकर सभ्यताभिमान के कारण शरीर चाहे न नाचे पर मन अवश्य नाचने लगता है। कहा भी है—

हरिणचरणक्षुण्णो पाताः सशाद्वलनिर्झराः,
कुसुमकलितैर्विष्वग्वातैस्तरंगितपादपाः।
विविध विहगश्रेणी चित्रस्वनप्रतिनादिता,
मनसि न मुदं दध्युः केषां शिवा वनभूमयः॥[१]

यदि यह सब व्यापार देखकर भी मानव मन अभिभूत न हुआ, स्वार्थ-साधन से ऊपर न उठा, अपने मानसिक कलुष को धो न सका, तो ऐसा जीवन बिडम्बना है। यह सब उस महा-कवि का महाकाव्य है। इसका रसास्वादन करना, इसकी धारा में अवगाहन करना—थोड़ी देर के लिये ही सही—जीवन की गति का, उल्लास का, तरङ्ग का परिचय देना है। आपका जीवन केवल 'मरुस्थल की यात्रा' मात्र है! वर्षा की झड़ी, शरद् की चन्द्रिका, वसन्त का वर्ण-स्फुरण मनुष्य मात्र को मुग्ध करने में समर्थ है। स्वयं भगवान् कृष्ण वसन्त पर ऐसे मोहित हुए कि उन्होंने अपना परिचय 'ऋतूनां कुसुमाकरः' कहकर दिया है।

इतना ही नहीं भावुकों के सम्मुख प्रकृति के रूप-व्यापार

---

१ जहाँ हरी हरी दूब का गलीचा बिछा है, जिसपर हिरणों के खुरों के चिह्न चिह्नित हैं, निकट ही सुन्दर झरने बह रहे हैं, कमनीय कुसुमों के मधुर सुगन्ध से सुगन्धमय पवन बह रहा है और तरुवर हिल रहे हैं. उस पर नाना प्रकार के विहंगम अपनी भाँति भाँति की मंजुल ध्वनि से संपूर्ण प्रदेश को प्रतिनादित कर रहे हैं, ऐसी परम रमणीय वनस्थली किसके मन को आनन्दित न करेगी।

कुछ मानसिक तथ्यों की व्यञ्जना भी करते हैं। पशु-पक्षियों की ध्वनि, चेष्टा आदि द्वारा उनके सुख-दुःख, अनुराग, क्रोध आदि की व्यञ्जना बहुत स्पष्ट होती है। वृक्ष, लताएँ भी अनेक भावों और तथ्यों की व्यञ्जना करती हैं। प्रचण्ड आतप में वे मुरझाकर शिथिल हो जाती हैं। लू और आँधी में उनका अंग-प्रत्यंग झकझोर कर विकल हो उठता है। वर्षा के आगमन पर उन्हीं वृक्षों-लताओं में हर्ष का संचार होता है। वे नव जीवन से उल्लसित हो जाती हैं। शिशिर में उनकी नग्न दीनता स्पष्ट जान पड़ती है और वसन्त आने पर जब उन्हें नवीन कलेवर तथा परिधान प्राप्त होता है तब नवरस संचार से वे उन्मत्त हो उठते हैं। इसी प्रकार प्रकृति के नाना रूपों द्वारा हम अनेक प्रकार की भावनाएँ प्राप्त कर सकते हैं। "अपने इधर उधर हरी भरी प्रफुल्लता का विधान करती हुई नदी की अविराम जीवन-धारा में हम द्रवीभूत औदार्य का दर्शन करते हैं। पर्वत की ऊँची चोटियों में विशालता और भव्यता का; वात-विलोड़ित जल प्रसार में क्षोभ और आकुलता का, विकीर्ण घन-खण्ड-मण्डित रश्मि रंजित सान्ध्य दिगंचल में चमत्कार पूर्ण सौन्दर्य का; ताप से तिलमिलाती धरा पर धूल झोंकते हुए अंधड़ के प्रचंड झोंकों में उग्रता और उच्छृंखलता का, बिजली की कँपानेवाली कड़क और ज्वालामुखी के ज्वलन्त स्फोट में भीषणता का आभास मिलता है।"[१]

परन्तु प्रकृति के सभी रूपों का सब पर समान प्रभाव नहीं पड़ता। साधारणतया मनुष्य प्रकृति के सुन्दर तथा कोमल रूप द्वारा ही आकर्षित होता है। उसके कठोर रूप में भी आकर्षण का अनुभव करने की सहृदयता विरले भाग्यशालियों को ही मिलती

१ कविता क्या है, चिंतामणि, पहला भाग; पृष्ठ १०।

है। जन साधारण केवल "प्रफुल्ल प्रसून-प्रसार के सौरभ-संचार, मकरन्द-लोलुप मधुप-गुंजार, कोकिल-कूजित निकुंज और शीतल सुख-स्पर्श समीर" से ही अभिभूत होते हैं। वे "मुक्ताभास-हिम-बिन्दु-मंडित मरकताभ शाद्वल-जाल अत्यन्त विशाल गिरि-शिखर से गिरते हुए जलप्रपात के गंभीर गर्त से उठी हुई सीकर निहारिका के बीच विविध वर्ण स्फुरण की विशालता, भव्यता और विचित्रतामें ही मन रमा सकते हैं।[1] स्वर्गीय आचार्य पंडित राम-चंद्र शुक्ल के अनुसार ऐसे लोग केवल चमक-दमक और तड़क-भड़क पर मुग्ध होनेवाले विषयी और तमाशबीन होते हैं, सच्चे सहृ-दय नहीं। उनका कहना है कि आजकल जितने लोग कश्मीर, दार्जिलिंग आदि जाते हैं, वे प्रायः तमाशबीन होते हैं, उनकी रुचि आतिशबाजी अथवा जलूस देखनेवाली होती है। यह ठीक है, पर इसके लिये उनको दोषी नहीं ठहराया जा सकता। मनुष्य के लिये यह नितांत स्वाभाविक है कि वह कठोरता और उग्रता से डरे, कोमल और कांत को ही अपनाए। प्रकृति की उपासना में भी मनुष्य इसी प्राकृतिक नियम का पालन करता है। केवल इसी कारण उसे सहृदयता से रिक्त समझना उचित नहीं।

तब भी यह मानना पड़ेगा कि सच्चा कलाकार, पूर्ण सहृदय प्रकृति के मधुर-सुन्दर तथा उग्र-कराल दोनों रूपों में तल्लीन हो जाता है। मधुर, सौन्दर्यमय, भव्य और विशाल, तथा रूखे, कर्कश, उग्र और कराल दोनों ही रूपों में हृदय को आन्दोलित करने की शक्ति निहित है। कँकरीले टीलों, ऊसर पटपरों, पहाड़ के उबड़ खाबड़ किनारों, बबूल करौंदे के झाड़ों, भयानक गर्तों आदि द्वारा भी हम आकर्षित, अभिभूत और प्रसन्न हो सकते हैं।

---

१ कविता क्या है, चिन्तामणि, पहला भाग, पृष्ठ २०४।

हमारे प्राचीन कवियों ने 'इंगुदी, अंकोट, तेंदू, बबूल और बहेड़े आदि जंगली वृक्षों का भी वर्णन पूर्ण तल्लीनता के साथ किया है। योरप के कवियों ने अपने गाँव के नाले के किनारे उगने वाली घास का वर्णन भी पूर्ण अनुभूति के साथ किया है।[१]

क्षुद्र से ही महान् की और साधारण से ही असाधारण की सत्ता है। प्रसंगप्राप्त साधारण और असाधारण सभी वस्तुएँ कलाकार की कृति का विषय होती हैं। दोनों के मेल से एक विस्तृत और पूर्ण चित्र संघटित करनेवाले ही कवि कहलाने के अधिकारी हैं।

अब हमें देखना यह है कि कवि के मन में ये दृश्य किस रूप में गृहीत होते हैं और फिर वह श्रोता अथवा पाठक के मन में उसके ग्रहण कराने के लिए कौन सा उपाय काम में लाता है।

कवि के दृश्य ग्रहण करने और कराने का स्वरूप

कवि के हृदय पर इन दृश्यों की छाप पड़ती है। यह छाप संकेत अथवा प्रतीक के रूप में नहीं होती वरन् बाह्य सत्ताओं की प्रतिकृति होती है, वस्तुओं का प्रतिरूप। इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष द्वारा अनुभव करने की क्रिया में वस्तुएँ मन पर मुहर के समान एक छाप डाल देती हैं। इस प्रकार हमारे हृदय पर जो चित्र उपस्थित होता है उसकी तुलना प्रतिमा (Portrait) से की जा सकती है। उसको हम बाह्य सत्ताओं का प्रतिबिम्ब कह सकते हैं। अतएव कलाकृतियों को हम उन अनुभवों अथवा छापों का चित्र कह सकते हैं जो कि उनको उत्पन्न करने वाली वस्तुओं के सम्मुख न रहने पर भी रहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि कला-कृति किसी वस्तु का प्रतिबिम्ब अथवा प्रतिरूप ही होती है तथापि वह उसका यथातथ्य रूप नहीं होती,

१ काव्य में प्राकृतिक दृश्य, चिंतामणि, दूसरा भाग, पृष्ठ ८।

परन्तु जैसी कि वह इन्द्रियों को दिखाई देती है।

'दृश्य' के अन्तर्गत नेत्र ही नहीं अन्य इन्द्रियानुभव-जन्य वस्तुएँ जैसे ध्वनि, गन्ध, स्पर्श, रस आदि भी समझना चाहिए, यद्यपि प्रधानता नेत्रों के ही विषय की होती है। जैसे यदि हम कहें कि "विविध वर्ण के सुमनों से सुशोभित वाटिका में हरसिंगार के फूलों की सुगन्ध फैल रही है और पक्षी कलरव कर रहे हैं तो यह एक दृश्य ही होगा यद्यपि इसमें नेत्र, नासिका और कर्ण द्वारा अनुभव किए जानेवाले रूप, गन्ध और ध्वनि सब हैं। इसका कारण यह है कि हृदय पर सब बाह्य सत्ताएँ चित्ररूप में प्रतिबिम्बित हो सकती हैं। इसी प्रतिबिम्ब को दृश्य कहते हैं।

कवि द्वारा वर्णित दृश्य का ग्रहण अभिधा द्वारा होता है। यह अभिधा द्वारा ग्रहण दो प्रकार से होता है—बिम्ब-ग्रहण और अर्थग्रहण। किसी ने कहा 'गुलाब'। इसका ग्रहण कोई इस प्रकार भी कर सकता है कि उसके मन में थोड़ी देर के लिए छोटी सी झाड़ी में लगे, छोटी छोटी कटीली हरी पत्तियों से युक्त, रक्ताभदल सहित पूर्ण विकसित एक पुष्प की मूर्ति आ जाय; अथवा इस प्रकार भी कर सकता है कि 'गुलाब' शब्द का अर्थ मात्र समझ कर रह जाय, उसके मानस पटल पर कोई चित्र अंकित न हो। पहला हृदय की क्रिया है और दूसरा बुद्धि की। कवि का उद्देश्य बिम्बग्रहण कराना होता है, अर्थ-ग्रहण नहीं। अतः काव्य के दृश्य-विधान में पहले प्रकार का ही ग्रहण अपेक्षित होता है। व्यवहार और शास्त्र-चर्चा में दूसरे प्रकार के अर्थ-ग्रहण से काम निकल जाता है। उसमें एक एक शब्द के वाच्यार्थ के स्वरूप पर अटकते चलने की न तो आवश्यकता होती है न अवकाश।

अतः स्पष्ट है कि प्रकृति का साक्षात्कार-जनित चित्र प्रतिबिम्ब के रूप में हमारे मन में उपस्थित होता है। प्रस्तुत दृश्य की यथा-

तथ्य अनुकृति के साथ-साथ तज्जनित भावना भी उसमें मिली होती है। जब हमारे मन में दृश्य उपस्थित होता है तब हर्ष, आह्लाद, शोक, विषाद आदि भाव भी उस चित्र का एक अंग बन जाते हैं।

कवि-धर्म केवल बिम्ब-ग्रहण से ही समाप्त नहीं हो जाता। उसका काम साधारणीकरण भी है। अतः उसके शब्द-विधान में कोरा फोटो-चित्र ही नहीं होता, हृदय की अनुभूति भी होती है। अपने शब्द प्रतीकों द्वारा वह केवल गोचर सत्ताओं की प्रतिमूर्ति—वस्तुओं का बाह्य पक्ष ही नहीं उपस्थित करता, वरन वह प्रभाव चित्रित करता है जो उसके मस्तिष्क अथवा हृदय पर पड़ता है। आकार की यथातथ्यता और विविध वर्णों का विन्यास चित्रकार के क्षेत्रान्तर्गत है। कविता बाह्य वस्तुओं के मानसपक्ष का चित्रण करती है। प्लैटो (Plato) ने कदाचित यह अन्तर नहीं समझा था। इसी कारण उन्होंने कवि को चित्रकार अथवा शिल्पकार से नीचा माना है और इन चित्रकारों और शिल्पियों को भी उपयोगी कलाओं के कर्ताओं से नीचा माना है।

कलाओं में प्रकृति की अभिव्यक्ति

प्रकृति से सभी मनुष्यों का साक्षात्कार होता है। परन्तु सब पर एक सा प्रभाव नहीं पड़ता, न्यूनाधिक मात्रा में पड़ता है। जिन व्यक्तियों पर प्रकृति का प्रभाव इतना अधिक पड़ता है कि वे उस प्रभाव की व्यंजना के लिए उत्तेजित हो उठते हैं, उसे साकार रूप देना चाहते हैं, वे कलाकार के अन्तर्गत आते हैं। यद्यपि काव्य की गणना भारतीय शास्त्रियों ने चौंसठ कलाओं में नहीं की है, तथापि पाश्चात्य विद्वान समालोचक काव्य को भी एक कला मानते हैं। अतएव यहाँ पर इस पाश्चात्य दृष्टि से विचार कर लेना उचित जान पड़ता है।

जिन कलाओं में प्रकृति की अभिव्यक्ति होती है उनमें मूर्ति, चित्र और काव्य कलाएँ प्रधान हैं। मूर्ति और चित्र कलाएँ अवस्थान की कलाएँ [१] कहलाती हैं। वे चल प्रकृति का चित्रण नहीं कर सकतीं। उसके शान्त स्वरूप की ही अभिव्यञ्जना कर सकती हैं। नक्काशी और पच्चीकारी मूर्तिकला के ही अन्तर्गत हैं। इसमें हम सुन्दरता की ही अभिव्यञ्जना कर सकते हैं। प्रकृति के भीषण, उग्र और कराल रूप की अभिव्यञ्जना उसमें असम्भव है और यदि सम्भव भी हो तो कदाचित वह कला की बारीकी के कारण प्रभावशाली न हो। फूल, पत्ती, लता, वृक्ष आदि प्रकृति के सुन्दर और सुकुमार रूप ही नक्काशी और पच्चीकारी के विषय हैं। सौन्दर्य-माधुर्य की ओर ही इसकी आँख जाती है।

चित्रकला भी प्रकृति के स्थिर रूप का ही चित्रण करती है। उसमे नेत्रों के ही विषय की प्रधानता रहती है। एक ही चित्र में वह प्रकृति को भिन्न-भिन्न दृष्टियों से नहीं उपस्थित कर सकता। वह एक विशेष क्षण को लेकर उसका चित्रण करता है और वही पूर्ववर्ती और परवर्ती बातों का प्रतिनिधि स्वरूप हो जाता है। उसका ध्यान मुख्यतया वर्णस्फुरण एवं आकार की ओर रहता है। गतिमती क्रिया का चित्रण वह नहीं कर सकता। अधिक से अधिक वह यही कर सकता है कि वस्तुओं को इस रूप में उपस्थित करे कि क्रिया का संकेत मात्र मिल जाय।

इन सब कलाओं में काव्यकला का उच्चतम स्थान है। कवि प्रकृति के प्रत्येक रूप का वर्णन कर सकता है। नदी की कल-कल ध्वनि, पक्षियों का फुदकना, वृक्षों का हिलना, आदि प्रकृति के चल-रूपों का भी चित्रण कवि कर सकता है। यही नहीं वह हमें अन्य ज्ञानेन्द्रियों द्वारा अनुभाव्य सत्ताओं जैसे मेघ-गर्जन, भीनी

---

१ Arts of repose.

सुगन्ध, शीतल पवनस्पर्श आदि का भी अनुभव करा सकता है। काव्य अपना प्रभाव केवल प्रतीकों द्वारा उत्पन्न करता है। अन्य कलाएँ ऐसा नहीं करतीं। काव्य आकृति और वर्णों को नेत्रों के सामने प्रत्यक्ष उपस्थित नहीं कर सकता। वह केवल शब्दों का उपयोग वर्णनीय वस्तु का बिम्ब-ग्रहण करने के लिए कर सकता है और फिर यह भी आवश्यक नहीं कि वे शब्द श्रव्य हों, वे केवल लिखित प्रतीक हो सकते हैं। फिर भी यद्यपि कविता प्रतीकों का उपयोग करती है, वह प्रतीकों का समूह नहीं है। यद्यपि अभिव्यञ्जना का माध्यम संकेत ही है तथापि वर्णन बिलकुल प्रतीकात्मक नहीं होता, क्योंकि संकेत वे सार्थक शब्द होते हैं जो हमारे जीवन में भावों और विचारों के उद्घाटन के स्वाभाविक और परिचित माध्यम हैं। और कोई भी कला मूल वस्तु का इतना सर्वांगपूर्ण प्रतिबिम्ब उपस्थित करने में समर्थ नहीं हो सकती है। यों तो सभी कला-कृतियाँ किसी मूल वस्तु के अनुरूप होती हैं, परन्तु वे उस बिंब को भिन्न-भिन्न साधनों और न्यूनाधिक निकटता तथा विशदता से प्रतिबिम्बित करती हैं। यही उनमें अन्तर है।

ललित कलाओं[1] के लिए यूनानी लोग अनुकरणात्मक कलाएँ[2] अथवा कभी-कभी उदार कलाएँ[3] पदावली का प्रयोग करते थे। ललित कला शब्द यूनानियों का नहीं है। ललित कलाओं की विशेषता के सूचक-रूप में 'अनुकरण' शब्द अरस्तू (Aristotle) का गढ़ा हुआ नहीं है। यह पहले पहल प्लैटो (Plato) में मिलता है और सम्भव है कि उनसे भी पहले प्रचलित रहा हो। अरस्तू ने कहा है

अरस्तू का अनुकरण सिद्धान्त
Theory of imitation

१ Fine arts.

२ Imitative arts.

३ Liberal arts.

कि कला प्रकृति का अनुकरण करती है[1] और लोगों ने इसको उनके ललित-कला विषयक मत का सूत्र मान लिया है। परन्तु कदाचित इसका तात्पर्य ललित और उपयोगी कलाओं[2] में अन्तर दिखाना नहीं था और न इसका यही अर्थ था कि ललित-कला प्राकृतिक सत्ताओं की नकल या प्रतिमूर्ति है। इस कला का विशेष सम्बन्ध उपयोगी कलाओं से है।

साधारणतया हमारे मन में अनुकरण का संबंध रचनात्मक स्वच्छंदता (Creative freedom) के अभाव, आँख बन्द करके अक्षरशः नकल करने के साथ है। परन्तु अरस्तू ने उसका प्रयोग इस अर्थ में नहीं किया है। उन्होंने एक स्थान पर कहा है कि कलाकार वस्तुओं का "जैसी वे होनी चाहिए" उस रूप में भी अनुकरण कर सकता है।[3] वह अपने सामने एक अप्राप्त आदर्श (Unrealised ideal) भी रख सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बाह्य संसार की अक्षरशः प्रतिलिपि का यहाँ कोई प्रश्न नहीं है। 'प्रकृति का अनुकरण करना' इस वाक्य का जन-साधारण सुलभ अर्थ अरस्तू के यहाँ ललित कला का उद्देश्य नहीं है।

जीवन सदैव अपने को उच्चतर बनाने के प्रयत्न में रहता है। कलाकार अपने अनुकरणात्मक संसार में इसी प्रयत्न को एक और अधिक सर्वांगपूर्ण पूर्ति की ओर ले जाता है। उसकी कला-

---

१ Art imitates nature.

२ Useful arts.

३ The poet being an imitator, like a painter or any other artist, must of necessity imitate one of three objects—things as they were or are, things as they are said or thought to be or things as they ought to be.
(Poetics. xxv. 1. Butcher's Translation),

कृति प्रकृति द्वारा खींची हुई आदर्श रेखाओं पर निर्मित होती है। उसका भी उद्देश्य वास्तविक से उच्चतर की ओर होता है। वह एक नई वस्तु उपस्थित करता है, अनुभव की हुई वास्तविक वस्तु नहीं--वास्तविक की प्रतिकृति नहीं वरन एक उच्चतर वास्तविकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य के लिए 'अनुकरण' का प्रयोग जिस अर्थ में अरस्तू ने किया है वह है रचना करना या 'एक आदर्श भाव के अनुसार सृजन करना'। प्रत्येक व्यापार में एक आदर्श रूप उपस्थित रहता है, परन्तु वह पूर्णतया स्पष्ट नहीं होता। कवि अथवा कलाकार इसी की पूर्णतर अभिव्यञ्जना करना चाहता है। वह उस आदर्श को, जो वास्तविकता के संसार में अर्ध स्पष्ट है, प्रकाश में लाना चाहता है। इस प्रकार अनुकरण एक विधायक व्यापार (Creative art) है। वह मूर्त वस्तु के प्रतिबिम्ब के रूप में अभिव्यञ्जना है जो उसके आदर्शभाव के अनुरूप होती है।

इस तत्त्व को दृष्टि में रखकर यदि हम वैज्ञानिक और कवि के प्रकृति वर्णनों की तुलना करें तो हमें उपर्युक्त 'अनुकरण' की व्याख्या का समुचित उदाहरण मिल जायगा।

वैज्ञानिक और कवि का प्रकृति वर्णन

वैज्ञानिक का संसार भौतिक पदार्थों और प्राकृतिक तत्त्वों का संसार है। वह उनका विश्लेषण करता है; उनके रूप, परिवार, गुणों, विशेषताओं और सम्बन्धों का अध्ययन करता और उनका वर्गीकरण करता है। वह उन कारणों और परिस्थितियों की खोज करता है जिनके अधीन हो कर वे अपना वर्तमान रूप प्राप्त करती हैं। वह संसार की अनेकरूपता और उलझन को सुलझा कर एकरूपता स्थापित करता है। वस्तुओं की क्रम-युक्त, बुद्धिसंगत व्याख्या करने, उनके गुण, उद्भव और इतिहास

बताने, कारण, प्रभाव और प्राकृतिक नियमों का ज्ञान प्राप्त कराने के अतिरिक्त वैज्ञानिक का कार्य और कुछ नहीं है। उसका काम ज्ञान प्राप्त और प्रदान करना है।

परन्तु वैज्ञानिक व्याख्या के उपरान्त जो कुछ बच रहता है उससे हमारा घनिष्ठ संबंध है। कविता का उद्देश्य ही कुछ और है। नित्य व्यवहार में वस्तुओं का वास्तविक रूप हमारे आकर्षण का विषय नहीं होता वरन् उनके गोचर रूप और रागों-मनोवेगों पर उनके प्रयत्न द्वारा हम आकर्षित होते हैं। किसी प्रकार की व्याख्या इस प्रभाव को नष्ट नहीं कर सकती प्रत्युत बढ़ाती ही है। इसी बात में कविता का मूल और उसकी स्थायी शक्ति निहित है। वह पदार्थों के रागात्मक और आध्यात्मिक पक्षों को प्रकट करती है। वह हमारे ऊपर उनके प्रभाव और हमारी ओर से उनके प्रति भाव की अभिव्यञ्जना और व्याख्या करती है। जो कुछ वैज्ञानिक कहता है वह मनोरंजक और अद्भुत अवश्य होता है परन्तु उसकी वस्तु वह नहीं होती जिसे हम जानते और प्यार करते हैं। वह विस्तृत व्याख्या हमें सुन्दरता और मधुरता का अनुभव कराने में समर्थ नहीं होती है और हम सौन्दर्य और माधुर्य ही चाहते हैं। इसके लिए हमें कवि का आश्रय लेना पड़ता है। प्रसिद्ध आलोचक मैथ्यू आर्नोल्ड का यह कहना बिलकुल ठीक है कि वस्तुओं की ऐसी व्याख्या करने की शक्ति ही कविता की महान् शक्ति है जिसके द्वारा हममें उन वस्तुओं के संबंध में तथा उनके और अपने प्रारम्भिक संबंध के विषय में पूर्ण, नूतन तथा अन्तरंग भावना उत्तेजित हो जाय। वैज्ञानिक व्याख्या द्वारा वस्तुओं का यह अन्तरंग भाव उस प्रकार नहीं प्रकट होता जिस प्रकार कि काव्य व्याख्या द्वारा। वे मनुष्य के एक परिमित अंश को ही प्रभावित करती हैं, सम्पूर्ण मनुष्य को नहीं। जो व्यक्ति हमारे

सामने प्राणियों, जलस्थलों अथवा वनस्पतियों का वास्तविक भाव प्रकट करते हैं, जो उनके वास्तविक मर्म को हृदयंगम कर लेते हैं, जो हमें उनके जीवन-व्यापारों में समभागी बनाने में सफल होते हैं, वे वैज्ञानिक नहीं होते, कवि ही हुआ करते हैं।"[१]

श्रीयुत स्टेडमैन द्वारा दिए गए उदाहरण से यह अन्तर स्पष्ट हो जायगा। आप अटलांटिक-तट के एक तूफान के विषय में कवि और वैज्ञानिक दोनों के वर्णनों का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि कवि उसका वर्णन इस प्रकार करेगा—

> सघन समुद्री मेघ घिरे, औ' चली अचानक पुरवाई।
> छोड़ रात हिम-तट, शृंगों से लैब्राडर के टकराई॥
> उभय तटों पर ताजन बरसा बीच केप न्यूफाउंडलैंड।
> खाड़ी में निज सेना लेकर, बढ़े वेग से फिर धाई॥[२]

१ "The grand power of poetry" is "the power of so dealing with things as to awaken in us a wonderfully full, new and intimate sense of them and of our relations with them......The interpretations of science do not give us this intimate sense of objects as the interpretations of poetry give it ; the appeal to a limited faculty, and not to the whole man. It is not Limaeus or Cavendish or Cuvier who give us the true sense of animals, or water or plants, who seize their secret, who make us participate in their life ; it is Shakespeare, Wordsworth, Keats, Chateantriend, Senaucour.

२ मूल इस प्रकार है—

> The East Wind gathered, all unknown,
> A thick sea cloud his course before;

इस समस्त मूर्तीकरण और कल्पना का अनुवाद वैज्ञानिक संस्था इस प्रकार करेगी—

"एक अत्यधिक कम हवा के दबाव वाला भाग तेजी से अटलांटिक तट के ऊपर बढ़ रहा है। साथ में आँधी और वर्षा भी है। झंझा-केन्द्र इस समय चाल्सटन से थोड़ी दूर है। हवा उत्तर-पूर्व, गति ५४, बैरोमीटर, २९·६। बुधवार तक यह न्यूयार्क पहुँच कर, पूर्व की ओर सेंट-लारेंस के तट और खाड़ी की दिशा में जायगा। विपत्ति-सूचना के लिए उत्तरी अटलांटिक के समस्त बन्दरगाहों को आज्ञा दे दी गई है।"[1]

He left by night the frozen zone,
And smote the cliffs of Labrador;
He lashed the coasts on either hand,
And betwixt the Cape and Newfoundland,
Into the bay his armies pour.

(The Nature and Elements of Poetry by E. C. Stedman)

[1] All this impersonification and fancy is translated by the weather Bureau into something like the following:—

"An area of extreme low pressure is rapidly moving up the Atlantic coast with wind and rain. Storm centre now off Charleston S. C. Wind N. E. Velocity 54. Barometer 29.6. The disturbance will reach New York on Wednesday, and proceed Eastward to the Banks and Bay of St. Lawrence. Danger signals ordered for all North Atlantic ports."

(The Nature and Elements of Poetry by E. C. Stedman.)

इन दोनों को लेकर हम देख सकते हैं कि कौन हमें तूफान का असली, सत्य और पूर्ण रूप देता है—कवि अथवा वैज्ञानिक संस्था की नीरस भाषा में कहे हुए तथ्य। यदि कोई किसी पहाड़ी समुद्र-तट पर खड़े होकर एक बड़ी आँधी का आनन्द उठाए और फिर वैज्ञानिक संस्था का तद्विषयक सूचीपत्र पढ़े और सोचे कि उस जीवन और सत्यता का जिसका उसने अनुभव किया था इसमें कहाँ आभास है तो उसको दोनों का अन्तर स्पष्ट हो जायगा। कवि अध्यापक या निवेदक नहीं होता। वह हृदय-पट पर चित्र खींचनेवाला चित्रकार होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य पर प्रकृति का प्रभाव एक सनातन सत्य है। कवि इसी प्रभाव को हृदयंगम करने की चेष्टा करता है। वह हमारे सामने उन वस्तुओं का हृदयग्राही बिम्बवत् चित्र खींचता है। हमें जान पड़ने लगता है मानो हम स्वतः उस दृश्य के सामने उपस्थित हैं। हम उसी शब्द-चित्र में लीन हो जाते हैं। कभी कभी वह मनुष्य की आन्तरिक भावनाओं से भी उनका संबंध दिखलाता है। परन्तु उसका मुख्य उद्देश्य वस्तु-व्यापार का यथातथ्य चित्रवत् प्रत्यक्षीकरण होना चाहिए। यही उच्च कोटि का काव्य है।

आगामी प्रकरणों में हम यही दिखाने की चेष्टा करेंगे कि कवियों ने किस किस प्रकार प्रकृति का प्रयोग काव्य में किया है और उच्च काव्य की कसौटी पर वे कहाँ तक खरे उतरते हैं।

———

द्वितीय प्रकरण

संस्कृत-साहित्य में प्रकृति-वर्णन

काव्य और प्रकृति के संबंध का स्पष्टीकरण हो चुकने के अनंतर अब हमें यह देखना है कि भारतीय साहित्य में प्रकृति का प्रयोग कितने प्रकार से हुआ है। हिंदी और संस्कृत-साहित्य का संबंध तो स्पष्ट ही है। अतएव हिंदी-काव्य में प्रकृति-वर्णन का स्वरूप समझने के लिए यहाँ पर संस्कृत-साहित्य में प्रकृति-वर्णन की एक झलक ले लेना आवश्यक है।

काव्य में प्रकृति का प्रयोग संस्कृत-साहित्य में तीन प्रकार से हुआ है—

(१) आलंबन के रूप में,

(२) उद्दीपन के रूप में,

(३) अप्रस्तुत अर्थात् उपमा, उत्प्रेक्षा आदि के रूप में।

हमारे साहित्य-शास्त्रियों ने विभाव के दो भेद किए हैं—एक आलंबन विभाव और दूसरा उद्दीपन विभाव। आलंबन द्वारा भाव का उदय होता है। आलंबन का अर्थ ही है सहारा, अर्थात् जिसके द्वारा अथवा जिसके सहारे भाव टिका रहे वह हुआ आलंबन। अतएव आलंबन ही भावों का विषय होता है।

आलंबन

बिम्ब-ग्रहण करना ही कवि का काम है और इसके लिए चित्रण ही काव्य का प्रथम विधान है। अत: भावों के विषय अथवा प्रकृत आधार का कल्पना द्वारा संश्लिष्ट और ब्योरेवार चित्रण ही कवि का सर्व प्रथम आवश्यक कार्य है।

प्रकृति का ग्रहण आलंबन के रूप में किस स्थल पर हुआ है इसका पता उस स्थल की वर्णन-प्रणाली के देखने से लग जायगा। कवि जहाँ बिम्ब-ग्रहण कराने की चेष्टा करेगा वहाँ प्रकृति का वर्णन आलंबन के रूप में ही होगा। ऐसे स्थलों पर कवि का निरीक्षण बड़ा सूक्ष्म होता है। वह वस्तुओं के अंग-प्रत्यंग, वर्ण, आकृति तथा उनके चारों ओर की परिस्थिति से संबद्ध संश्लिष्ट चित्र उपस्थित करता है। कवि के विशेष अनुराग बिना ऐसे सूक्ष्म ब्योरों और परिस्थितियों पर दृष्टि न तो जायगी ही और न टिकेगी ही। अतएव सूक्ष्म विवरण-युक्त, संश्लिष्ट और पूर्ण वर्णन वाले स्थानों पर प्रकृति का ग्रहण आलंबन के रूप में समझना चाहिए।

मनुष्येतर बाह्य प्रकृति का आलंबन के रूप में चित्रण केवल संस्कृत के प्राचीन प्रबंध-काव्यों में ही मिलेगा। इन्हीं से थोड़े से उदाहरण यहाँ संकलित हैं। वाल्मीकि रामायण में प्रकृति के अनेक सुन्दर वर्णन हैं। उनमें कवि के हृदय का पूरा योग दिखाई देता है। आदि-कवि के वर्षा-वर्णन के कुछ छंद देखिए—

व्यामिश्रितं सर्ज-कदम्बपुष्पै
नवं जल पर्वतधातुताम्रम्।
मयूरकेकाभिरनुप्रयातम्
शैलापगाः शीघ्रतरं वहन्ति॥
रसाकुलं षट्पद-सन्निकाशं
प्रभुज्यते जम्बुफलं प्रकामम्।
अनेक वर्णं पवनावधूतं
भूमौ पतत्याम्रफलं विपक्वम्॥
मुक्तासकाशं सलिलं पतद्वै
सुनिर्मलं पत्र-पुटेषु लग्नम्।

हृष्टा विवर्णच्छदना विहंगाः
सुरेन्द्रदत्तं तृषिताः पिबन्ति ॥[1]

नदियों का सर्ज और कदम्ब के फूलों से मिश्रित गेरू से लाल होना, पत्तों की नोंक पर लगी पानी के बूँदों का तितिर बितिर परों वाले पक्षियों द्वारा पीया जाना आदि व्यापार कवि का सूक्ष्म निरीक्षण सूचित करते हैं। सबकी संश्लिष्ट योजना है।

पंचवटी में लक्ष्मण हेमंत का कैसा दृश्य देख रहे हैं—

अवश्यायनिपातेन किंचित्प्रक्लिन्नशाद्वला।
वनानां शोभते भूमिर्निविष्टतरुणातपा ॥
स्पृशन्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम्।
अत्यन्ततृषितो वन्यः प्रतिसंहरते करम् ॥
अवश्यायतमोनद्धा नीहारतमसावृताः।
प्रसुप्ता इव लक्ष्यन्ते विपुष्पा वनराजयः ॥
वाष्पसंछन्नसलिला रुतविज्ञेय-सारसाः।
हिमार्द्रवालुकैस्तीरैः सरितो भान्ति सांप्रतम् ॥

---

१. पर्वत की नदियाँ सर्ज और कदम्ब के फूलों से मिश्रित पर्वत - धातुओं (गेरु) से लाल नए गिरे जल से कैसी शीघ्रता मे बह रही हैं, जिनके साथ मोर बोल रहे हैं। रस से भरे भौंरों के समान काले काले जामुन के फलों को लोग खा रहे हैं। अनेक रंग के पके आम के फल वायु के झोंके से टूट कर भूमि पर गिरते हैं। प्यासे पक्षी जिनके पंख पानी से बिगड़ गए हैं, मोती के समान इन्द्र के दिए हुए जल को जो पत्तों की नोंक पर लगा हुआ है, हर्षित हो कर पी रहे हैं।

जराजर्जरितैः पद्मैः शीर्णकेसरकर्णिकैः ।
नालशेषैर्हिमध्वस्तैर्न भान्ति कमलाकराः ॥[१]

(वाल्मीकीय रामायण, अरण्य कांड, सर्ग १२, श्लोक १४, १६, १८।)

यहाँ भी पाले से ढकी नदियों का बालू के तटों से और सारसों का उनकी बोली मात्र से पहचाना जाना, कमल का नाल मात्र खड़ा रहना, उनकी कर्णिका छितरा जाना आदि व्यापारों का सम्बद्ध चित्र है, जिससे कवि का सूक्ष्म निरीक्षण और प्रकृति के प्रति अनुराग सूचित होता है।

महाकवि कालिदास उपमा देने में अद्वितीय समझे जाते हैं। परंतु उन्होंने भी जहाँ स्थल-वर्णन को सामने रखकर दृश्य अंकित किया है वहाँ उनका निरीक्षण अत्यन्त सूक्ष्म है। वस्तु-चित्र को उन्होंने उपमा आदि का दुर्वह बोझ लाद कर भद्दा नहीं किया है। उदाहरण स्वरूप उनके रघुवंश, कुमार-संभव, मेघदूत आदि के वर्णन हैं। कुमारसंभव के आरंभ में ही हिमालय का जो विशद वर्णन किया है वह आलंबन के ही रूप में। थोड़े से ही छंदों से पूरे वर्णन का पता चला जायगा—

---

१ वन की भूमि जिसकी हरी हरी घास पाला गिरने से कुछ कुछ गीली हो गई है, नई धूप पड़ने से कैसी शोभा दे रही है। अत्यन्त प्यासा जंगली हाथी बहुत शीतल जल के स्पर्श से अपनी सूँड़ सिकोड़ता है। बिना फूल के वन-समूह कुहरे के अन्धकार में सोए से जान पड़ते हैं। नदियाँ जिनका जल कुहरे से ढका हुआ है और जिनमें सारस पक्षी केवल शब्द से जाने जाते हैं, हिम से आर्द्र होकर बालू के तटों से ही पहचानी जाती हैं। कमल जिनके पत्ते जीर्ण होकर झड़ गए हैं जिनकी केसर और कर्णिका फूट फूट कर बिखर गई हैं, पाले से ध्वस्त होकर नाल मात्र खड़े हैं।

आमेखलं संचरतां घनानां छायामधःसानुगतां निषेव्य।
उद्वेजिता वृष्टिभिराश्रयन्ते शृङ्गाणि यस्या तपवन्ति सिद्धाः॥
कपोलकण्डूः करिभिर्विनेतुं विघट्टितानां सरलद्रुमाणाम्।
यत्र स्रुतक्षीरितया प्रसूतः सानूनि गन्धः सुरभीकरोति॥
भागीरथी-निर्झरसीकराणां वोढा मुहुः कम्पितदेवदारुः।
यद्वायुरन्विष्टमृगैः किरातैरासेव्यते भिन्नशिखण्डिबर्हः॥[1]

(कुमारसंभव सर्ग १, श्लोक, ५, ९, १५।)

हाथियों का खुजली मिटाने के लिए सरल वृक्षों में माथा रगड़ना और इस प्रकार निकले हुए दूध द्वारा सुगंध फैलना, पवन द्वारा देवदारु के पूरे वृक्ष का धीरे धीरे हिलना आदि व्यापार कवि का सूक्ष्म अनुभव बतलाते हैं। इसी प्रकार समुद्र का वर्णन देखिए—

मातङ्गनक्रैः सहसोत्पतद्भि
भिन्नान्द्विधा पश्य समुद्रफेनान्।
कपोलसंसर्पितया य एषां
व्रजन्ति कर्णक्षणचामरत्वम्॥
तवाधरस्पर्धिषु विद्रुमेषु
पर्यस्तमेतत्सहसोर्मिवेगात्।

---

१ मेखला तक घूमनेवाले मेघों के नीचे के शिखरों में प्राप्त छाया को सेवन करके वृष्टि से कँपे हुए सिद्ध लोग जिसके धूपवाले शिखरों का सेवन करते हैं। जिस (हिमालय) में कपोलों की खुजली मिटाने के लिए हाथियों के द्वारा रगड़े हुए सरल (सलई) के पेड़ों से टपके हुए दूध से उत्पन्न सुगंध शिखरों को सुगंधित करती है। गंगा के झरने के कणों को ले जानेवाला, बार-बार देवदारु के पेड़ों को कँपानेवाला, मयूरों की पूँछों को छितरानेवाला जिसका पवन मृगों के ढूँढ़नेवाले किरातों द्वारा सेवन किया जाता है।

ऊर्ध्वाङ्कुरप्रोतमुखं कथंचि-
त्क्लेशादपक्रामति शंखयूथम् ॥
एते वयं सैकत-भिन्न-शुक्ति-
पर्यस्त-मुक्तापटलं पयोधेः ।
प्राप्ता मुहूर्तेन विमानवेगा-
त्कूलं फलावर्जित-पूगमालम् ॥
कुरुष्व तावत्करभोरु पश्चान्मार्गे
मृग-प्रेक्षिणि दृष्टिपातम् ।
एषा विदूरीभवतः समुद्रा-
त्सकानना निष्पततीव भूमिः ॥[1]
(रघुवंश, सर्ग १३, श्लोक ११,१३,१७,१८ ।)

महाकवि कालिदास की दृष्टि केवल सुन्दर दृश्यों की ओर ही जाती रही हो यह बात नहीं है। असुन्दर दृश्यों का वर्णन भी उन्होंने पूरी मार्मिकता से किया है। कुश ने जब कुशावती

१ मतंगाकार मगरों के जल के भीतर से सहसा ऊपर उठने से समुद्र फेन द्विधा विभक्त होकर उनकी दोनों कनपटी पर फैल जाता है और कानों का चमर-सा जान पड़ता है। तरंगों के वेग द्वारा फेंका जाकर शखों का समूह मूँगे की चट्टानों से टकराता है, जिनके ऊपर उठे हुए अंकुरों से उनका मुँह छिद जाता है और वे कठिनता से पीछे लौट पाते हैं। विमान के वेग के कारण हम समुद्र तट पर क्षणभर में ही पहुँच गए, जहाँ फटी हुई सीपियों से निकले ढेर के ढेर मोती रेत पर पड़े हैं और सुपारी के पेड़ फलों के बोझ के कारण झुक गए हैं। हम लोगों द्वारा पीछे छोड़े हुए रास्ते पर दृष्टिपात करो। जैसे जैसे समुद्र दूर होता जाता है मानों वैसे ही वैसे वन सहित पृथ्वी उसके भीतर से निकलती आती है।

को अपनी राजधानी बनाई तब अयोध्या उजड़कर भग्नावशेष हो गई। उस भग्नावशेष का वर्णन कवि-कुल-गुरु ने सहृदयता से किया है—

निशासु भास्वत्कलनूपुराणां
य: सञ्चरोऽभूदभिसारिकाणाम् ।
नदन्मुखोल्काविचितामिषाभिः
स वाह्यते राजपथ: शिवाभिः ॥

स्तम्भेषु योषित्प्रतियातनाना-
मुत्क्रान्तवर्णक्रमधूसराणाम् ।
स्तनोत्तरीयाणि भवंति सङ्गा-
न्निर्मोकपट्टाः फणिभिर्विमुक्ताः ॥

कालान्तर श्यामसुधेषु नक्त-
मितस्ततो रूढतृणाङ्कुरेषु ।
त एव मुक्तागुणशुद्धयोऽपि
हर्म्येषु मूर्च्छन्ति न चन्द्रपादाः ॥

रात्रावनाविष्कृत-दीपभास:
कान्तामुखश्रीवियुता दिवापि ।
तिरस्क्रियन्ते कृमितन्तुजालै-
र्विच्छिन्नधूमप्रसरा गवाक्षाः ॥[1]

(रघुवंश, सर्ग १६, श्लोक १२, १७, १८, २० ।)

---

१ जिन राजमार्गों में पहले दीप्तिमान नूपुर झनकारती हुई अभिसारिकाएँ रात में चलती थीं वहाँ गीदड़ी फिरती हैं जो चिल्लाने के समय मुँह से निकले हुए अग्नि प्रकाश में मुर्दा जानवरों का मांस ढूँढ़ती हैं। खंभों पर लिपटे हुए साँपों द्वारा छोड़ी हुई केंचुल उन पर खुदी हुई स्त्री-मूर्तियों की चोलियाँ बन रही हैं। इन मूर्तियों का

कालान्तर से चूने का काला पड़ जाना, उस पर कहीं कहीं घास निकल आना, झरोखों का मकड़ियों के जालों से ढँक जाना आदि व्यापार कवि की छोटे से छोटे ब्योरे पर ध्यान देनेवाली व्यापक दृष्टि की सूचना देते हैं।

इसी प्रकार उनका मेघदूत प्रकृति के चित्रों का एक भण्डार है। विशेषकर पूर्व-मेघ तो आद्योपांत एक चित्र ही है। 'मेघदूत' न कल्पना की कोरी उड़ान है न कला की विचित्रता। वह है प्राचीन भारत के सबसे भावुक हृदय की अपनी प्यारी भूमि की रूप-माधुरी पर सीधी-सादी प्रेम दृष्टि! ग्रीष्म से तपे हुए पर्वत पर वर्षा-जल द्वारा भाप का उठना, नए जुते खेतों से सुगन्ध उठना,[1] भिन्न भिन्न भूभागों की विशेषताएँ, गृहों की अटारियों पर कबूतरों का सुख से सोना[2], बड़ी नदी का भी दूर से पतली दिखाई देना आदि अनेक वर्णनों से उनका सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण सूचित होता है।

भावमूर्ति भवभूति का भी प्रकृति के रूप-माधुर्य की ओर

रंग कहीं कहीं उड़ गया है और उनमें बेहद धुँधलापन आ गया है। कालान्तर से महलों के पलस्तर का चूना काला पड़ गया है। उन पर कहीं कहीं घास उग रही है। इसी कारण रात में उनके ऊपर मुक्ताहार के सदृश चन्द्र किरणें भी अब नहीं चमकतीं। रात्रि में दीपक के प्रकाश से रहित और दिन में स्त्रियों के मुख की कांति से शून्य, जिनमें से धुएँ का निकलना बंद हो गया है, ऐसे झरोखे मकड़ियों के जालों से ढँक गए हैं।

१ सद्यः सीरोत्कषण-सुरभि क्षेत्रमारुह्य मालम्।

(मेघदूत, पूर्वमेघ १६।)

२ तां कस्यांचिद्भवनवलभौ सुप्त-पारावतायाम्।

(वही, ४२।)

पूर्ण ध्यान था। नाटक में स्थान-चित्रण का अवकाश न होने पर भी उन्होंने बीच बीच में जो उसकी झलक दिखाई है उससे उनका वन्य प्राकृतिक दृश्यों के प्रति गूढ़ अनुराग लक्षित होता है। दो ही एक उदाहरण यथेष्ट होंगे। गर्मी की दोपहर में दण्डक का एक दृश्य कवि निम्नलिखित शब्दों में देता है—

> कण्डूलद्विपगण्डपिण्डकषणात्कम्पेन संपातिभि-
> र्घर्मस्रंसित-बन्धनैः स्वकुसुमैरर्चन्ति गोदावरीम्।
> छायापरिकरमाणविष्किरमुखव्याकृष्टकीटत्वचः
> कूजत्क्लान्तकपोतकुक्कुटकुलाः कूले कुलायद्रुमाः॥[1]
>
> (उत्तररामचरित, सं० २–९।)

हाथियों का खुजली के कारण मस्तक रगड़ना, गर्मी से स्वयं ढीले पड़े फूलों का इस व्यापार द्वारा गोदावरी में गिरना, पक्षियों का छाल खोदकर कीड़े बाहर निकालना आदि व्यापारों पर बिना पूर्ण अनुराग के दृष्टि जा ही नहीं सकती।

दण्डक वन का वर्णन करते हुए कवि ने कहा है—

> इह समदशकुन्ताक्रान्तवानीरवीरुत्
> प्रसवसुरभिशीतस्वच्छतोया वहन्ति।
> फलभरपरिणामश्यामजम्बूनिकुञ्ज-
> स्खलनमुखरभूरिस्रोतसो निर्झरिण्यः॥

---

१ हाथियों के बड़े बड़े गोल कपोलों की रगड़ से हिलकर वृक्षों के फूल जो कि स्वयं गर्मी से डंठल पर ढीले पड़ गए हैं, झड़ कर मानो गोदावरी की अर्चना कर रहे हैं। उनकी छाया में बैठी हुई चिड़ियाँ चारे के अनुसंधान में चोंच से खोदती हैं और छाल में छिपे कीड़ों को बाहर खींचती हैं। उनके ऊपर बहुत से कपोत और कुक्कुट क्लान्त होकर बोल रहे हैं।

दधति कुहरभाजामत्र भल्लूकयूना-
मनुरसितगुरूणि स्त्यानमम्बूकृतानि ।
शिशिरकटुकषायः स्त्यायते सल्लकीना-
मिभदलितविकीर्णग्रन्थिनिष्पन्दगन्धः ॥[१]

(उत्तररामचरित, २-२०, २१ ।)

संस्कृत के कवियों में प्रकृति का वर्णन एक विशेष विषय रहा है। जहाँ भी उन्हें अवसर मिला है उन्होंने उसे हाथ से जाने नहीं दिया है। भारवि आदि कवियों के और भी अनेक सुन्दर प्रकृति-वर्णन मिलेंगे। ऐसे वर्णन प्रायः प्रबन्ध-काव्यों में ही हैं, मुक्तक रूप में नहीं हैं।

पहले कहा जा चुका है कि विभाव के दो पक्ष होते हैं—आलंबन और उद्दीपन। प्रकृति का आलंबन के रूप में ग्रहण हम देख चुके। उद्दीपन विभाव उसे कहते हैं जो कि आलंबन के द्वारा आश्रय के हृदय में उत्पन्न भाव को उद्दीप्त करे अर्थात् बढ़ावे। प्राचीन भारतीय साहित्य-शास्त्रियों ने प्रकृति को उद्दीपन ही माना है। उनके अनुसार प्राकृतिक दृश्यों का समावेश अथवा

उद्दीपन

१ यहाँ समद पक्षियों के वानीर लता में घुसने के कारण झरने में गिरे हुए फूलों से शीत और स्वच्छ जल सुगंधित हो गया। इससे भरे फलों के भार के कारण श्याम जम्बू-निकुंज द्वारा जब धाराओं का मार्ग रुकता है, तब उनकी धाराएँ मुखर हो जाती हैं। यहाँ युवा भालुओं की, जो कि कंदराओं में रहते हैं, गुरहिट प्रतिध्वनि के कारण बड़े जोर की प्रतीत होती है और हाथियों द्वारा तोड़े हुए सल्लकी वृक्षों से निकलती हुई ठढ़ी, कटु और कषाय सुगंध भी फैल रही है।

चित्रण बहुधा उद्दीपन के लिए होता है। वन, उपवन, और विशेषतः ऋतु, चन्द्र आदि नायक-नायिका के भावों के उद्दीपन ही बताए गए हैं। इस प्रकार की कविता अत्यधिक पाई जाती है। प्रायः स्फुट रूप से मुक्तकों के रूप में मिलती है, प्रबन्ध-काव्यों में कम। प्रबन्ध-काव्यों में भी प्रकृति का प्रयोग उद्दीपन के रूप में हुआ है, परन्तु दूर तक चलनेवाले वर्णनों में या तो कवि ने उसे आलंबन रूप में ग्रहण किया है अथवा अप्रस्तुतों के ढेर से भाराक्रान्त कर दिया है। षड्ऋतु-वर्णन में प्रायः प्रकृति का उपयोग उद्दीपन के रूप में ही हुआ है। उदाहरणार्थ महाकवि माघ के कुछ ऋतु-वर्णन देखिए—

शरद्—

अनुवनं वनराजिवधूमुखे
बहलरागजवाधरचारुभिः।
विकचबाणदलावलयोऽधिकं
रुरुचिरे रुचिरेक्षणविभ्रमाः॥

कनकभंगविशंगदलैर्दधे
सरज सारुण-केशर चारुभिः।
प्रियविमानितमानवतीरुषां
निरसनैरसनैरवृथार्थता॥

हेमन्त—इदमयुक्तमहो महदेव यद् वरतनो स्मरयत्यनिलोऽन्यदा।
स्मृतसयौवनसोष्मपयोधरान्सतुहिनस्तु हिनस्तु वियोगिनः॥
धृततुषारकणस्थनभस्वतस्तरुलतांगुलितर्जनविभ्रमाः।
पृथु निरन्तरमिष्टभुजान्तरं वनितयानितया न विषेहिरे॥

शिशिर—कुसुमयन्फलिनीरलिनीरवै मदविकासिभिराहितहुंकृतिः।
उपवनं निरभर्त्सयत प्रियान्वियुवतीर्युवतीः शिशिरानिलः॥

शिशिरमासमपास्य गुणाऽस्य नः क इव शीतहरस्य कुचोष्मणः।
इति धियास्तरुपः परिरेभिरे घनमतो नमतोऽनुमितान्प्रियाः ॥

महाकवि बाणभट्ट की कादम्बरी में इस प्रकार के उदाहरण भरे पड़े हैं। उनके वसन्त-वर्णन का केवल एक वाक्य देखिए—

"तस्मिन्नेव चान्तरे तत्संधुक्षणायेव प्रवर्तयन्सरसकिसलयलता-लास्योपदेशदक्ष दक्षिणानिलमालोल-रक्त-पल्लव प्रालम्बान्कम्पयन्नशोक-शाखिनो वांछितमुकुलमजरीभरेणानम्रयन्बालसहकारानुत्कोरकयन्कुरवकैः सह बकुलतिलकचम्पकनीपानापीतयन्किंकिरातैः ककुभान्वि-किरन्नतिमुक्तकामोदमुद्दामयन्किंशुकदलानि निरंकुशयन्कामिजनमनांसि निर्मूलयन्मानमभिजयँल्लज्जामपाकुर्वन्कोपमपनयन्ननुनयव्यवस्थामास्था-पयन्हठचुम्बनालिङ्गनरतस्थितिं समुल्लासयन्मकरध्वजरक्तध्वजाभिवकिंशुकानि सकलमेव महारजतमयमिव मदनमयमिवोन्मादमयमिव प्रेममयमिवोत्सव-मयमिवौत्सुक्यमयमिव जनयंजीवलोकं किसलयति सर्वकान्तारकाननो-पवनतरुरुत्फुल्लचूतद्रुमामोदवासितदशदिशान्तरो मधुमदमधुर-कोकिलालापदुःखिताध्वगजनश्रुतिरनवरतमकरन्दसीकरासारदुर्दिनोन्मदित-सकलजीवलोकहृदयो मदाकुलभ्रमद्भ्रमरझंकारकातरितविरहातुरमनो-वृत्तिरात्मसम्भवैकोल्लासकारी भरात्परावर्तत सुरभिमासः।"[१]

---

१ ऐसी अवस्था में कामाग्नि का मानो उद्दीपन करने के लिए सरस पल्लवयुक्त लताओं को नाचना सिखाने में चतुर दक्षिण पवन बहने लगा और चैत्र मास पूरी तरह आरंभ हुआ। वह चंचल लाल पल्लववाले अशोक वृक्षों को कँपाने लगा, वांछित कली तथा मंजरी के भार से आम के छोटे छोटे वृक्षों को झुकाने लगा, कुरवकों के साथ बकुल, तिलक, चम्पक तथा कदंबों को कलियों से लादने लगा। कोकिलों को लाने लगा, किंकिरात वृक्षों के साथ अर्जुन वृक्षों को पीला करने लगा, वासंती लता की परिमल फैलाने लगा, पलाश

यह तो महाकवियों, महाकाव्यों और प्रबंध-काव्यों की बात हुई। परंतु जैसा कि कहा जा चुका है, उद्दीपन के रूप में प्रकृति-वर्णन मुक्तकों में ही अधिक मिलता है। सुभाषितों में ऐसे उदाहरण बहुतायत से मिलेंगे। यथा—

पतत्यविरतं वारि नृत्यन्ति च कलापिनः।
अद्य कान्तः कृतान्तो वा दुःखस्यान्तं करिष्यति॥
उत्कण्ठयति मेघानां माला वर्गं कलापिनाम्।
यूनां चोत्कण्ठयत्यद्य मानसं मकरध्वजः॥

महाकवि कालिदास में भी इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं। ऋतुसंहार—यदि वह कालिदास का ही है जिसमें कि विद्वानों को अभी संदेह है—का प्रकृति-वर्णन उद्दीपन के रूप में है। पूरा

वन को खिलाने लगा। कामी जनों के मन को पूर्ण स्वतंत्रता देने लगा। मान को निर्मूल करने लगा। लज्जा छुड़ाने लगा। कोप को हटाने लगा। कुपित कामिनियों की अनुनय की व्यवस्था को दूर करने लगा। बलपूर्वक चुंबन, आलिंगन, सुरत की स्पृहा पैदा करने लगा। कामदेव की लाल ध्वजा के समान किंशुकों को नचाने लगा। सब जीव लोक को मानो स्वर्णमय, रागमय, मदनमय, उन्मादमय, प्रेममय, उत्सवमय अथवा औत्सुक्यमय करने लगा। सब कानन, वन तथा बगीचों के वृक्षों में कोंपल पैदा करने लगा। फूले हुए आम के वृक्षों की सुगंध से दशों दिशाओं को व्याप्त करने लगा। मकरंद के मद से मधुर हुए कोकिलों के आलाप से पथिकजनों के कानों को दुख देने लगा। लगातार मकरंद के बाणों की वर्षा से दुर्दिन करके सब जीव लोक के हृदय को उन्मत्त करने लगा। मदमत्त होकर भ्रमण करते हुए भौंरों के गुंजार से विरहातुर जनों की मनोवृत्ति को व्याकुल करने लगा और केवल कामदेव को ही जगाने लगा।

काव्य मुक्तकों का संग्रह सा प्रतीत होता है। रघुवंश के नवें सर्ग में सन्निविष्ट वर्णन भी उद्दीपनात्मक ही है। दोनों के वर्णनों का पता छंद से लग जायगा—

कुसुमजन्मततो नवपल्लवा—
स्तदनु षट्पद-कोकिल कूजितम्।
इति यथाक्रममाविर्भून्मधु—
द्रुमवतीमवतीर्थ-वनस्थलीम् ॥

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि उद्दीपन की दृष्टि से जो वर्णन किए जाते हैं उनमें बिंब-ग्रहण कराने का कोई प्रयत्न नहीं होता। केवल नाम गिनाकर अर्थ-ग्रहण करा दिया जाता है। ऐसे वर्णनों में भिन्न भिन्न रूपों और व्यापारों के संबद्ध और संश्लिष्ट चित्रण का ध्यान नहीं रखा जाता है। कुछ इनी गिनी वस्तुओं का उल्लेख मात्र कर दिया जाता है और उनके द्वारा नायक-नायिका के सुख-दुःख को उद्दीपन करने का प्रयत्न किया जाता है। यदि ऋतुसंहार नामक काव्य कालिदास का ही है तो यह मानना पड़ेगा कि यह प्रथा कालिदास के समय से ही चली। स्थल-वर्णन तो आलंबन के रूप में ही कुछ दिनों तक रहा जैसा कि भवभूति आदि के वर्णनों से ज्ञात होता है, परंतु ऋतु-वर्णन में यह बात नहीं रही। जहाँ उद्दीपन नहीं भी इष्ट था वहाँ भी कुछ निश्चित वस्तुओं का परिगणन मात्र यथेष्ट समझा जाने लगा। इस प्रकार प्रकृति-वर्णन परंपरायुक्त हो गया।

उद्दीपन के अंतर्गत एक प्रकार का प्रकृति का प्रयोग हम और ले सकते हैं। अभी तक तो शृङ्गार के, रति भाव के उद्दीपन की बात थी। परन्तु विषयी या ज्ञाता को कभी कभी अपने चारों ओर उपस्थित प्राकृतिक वस्तुएँ तत्कालीन भावों में रंगी ज्ञात होती हैं। दृश्यों की भिन्नता के ही कारण नहीं द्रष्टा के आन्तरिक

भावों के कारण भी दृश्यों में भेद हो सकता है। वही दृश्य भिन्न भिन्न मनुष्यों को भिन्न भिन्न रूपों में दिखाई दे सकता है। इसका बड़ा सुंदर उदाहरण आदिकवि वाल्मीकि ने दिया है। पंचवटी में लक्ष्मण को हेमन्त में, पाले से धुँधली ज्योत्स्ना ऐसी ज्ञात हुई मानो धूप से साँवली पड़ी सीता—

ज्योत्स्ना तुषारमलिना पौर्णमास्यां न राजते।
सीतेव चातपश्यामा लक्ष्यते न तु शोभते॥

इसी प्रकार सुग्रीव को राज देकर माल्यवान पर्वत पर निवास करते हुए विरहाकुल राम को वर्षा में ग्रीष्म की धूप से संतप्त पृथ्वी जल से पूर्ण होकर सीता के समान आँसू बहाती हुई दिखाई दी। नीलमेघ में चमकती बिजली रावण की गोद में छटपटाती वैदेही के समान और पुष्पित अर्जुन-वृक्ष-युक्त तथा केतकी से सुगंधित पर्वत अभिषेक की जलधारा से सींचे जाते हुए शत्रु-रहित सुग्रीव के समान दिखाई पड़ा—

एषा घर्मपरिक्लिष्टा नववारिपरिप्लुता।
सीतेव शोकसन्तप्ता मही वाष्पं विमुंचति॥
नीलमेघाश्रिता विद्युत्स्फुरन्ती प्रतिभाति माम्।
स्फुरन्ती रावणस्यांके वैदेहीव तपस्विनी॥
एष फुल्लार्जुनः शैलः केतकीरधिवासितः
सुग्रीव इव शान्तारिर्धाराभिरभिषिच्यते॥

प्रकृति का तीसरे प्रकार का प्रयोग जो संस्कृत काव्य में पाया जाता है—और बहुतायत से पाया जाता है—अप्रस्तुत के रूप में है। अप्रस्तुत से मेरा अर्थ केवल उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, अन्योक्ति आदि से ही नहीं है वरन् उन वर्णनों से भी है, जिनमें कि प्राकृतिक रूपविन्यास प्रस्तुत के रूप में होते हुए भी उपमा-उत्प्रेक्षा-प्रधान होता है

अप्रस्तुत

अर्थात् जिसमें प्राकृतिक रूप-व्यापारों के ऊपर अप्रस्तुतों की इतनी भरमार होती है कि प्रस्तुत दबकर गौण हो जाता है। ऐसे वर्णन संस्कृत के परवर्ती कवियों में प्रचुरता से मिलेंगे।

जिस कल्पना का उपयोग आदिकवि, कालिदास, भवभूति आदि पूर्ववर्ती कवि पदार्थों की रूपयोजना करने, प्राकृतिक सूक्ष्म व्यापारों को ढूँढ़ने और इस प्रकार एक संश्लिष्ट चित्र उपस्थित करने में करते थे, उसका प्रयोग पिछले कवियों ने अप्रस्तुतों की विचित्र विचित्र उद्भावना करने में ही किया। उनकी प्रवृत्ति वस्तुविन्यास की ओर कम अलंकार-योजना की ओर अधिक थी। प्राचीन कवियों का सा ब्योरेवार चित्रण और रूपविश्लेषण इनमें नहीं मिलता है। महाकवि माघ इसी प्रकार के कवि थे। दृश्य-चित्रण में उनकी दृष्टि अलंकार-योजना पर ही अधिक रहती थी। उन्होंने प्रभात-वर्णन में कहा है—

अरुणजलजराजी मुग्धहस्ताग्रपादा,
बहुलमधुपमाला कज्जलेन्दीवराक्षी।
अनुपतति विरावैः पत्रिणां व्याहरन्ती,
रजनिमचिरजनता पूर्वसंध्या सुतेव॥

विततपृथुवरत्रातुल्यरूपैर्मयूखैः
कलश इव गरीयान् दिग्भिराकृष्यमाणः।
कृतचपलविहंगालापकोलाहलाभि-
र्जलनिधिजलमध्यादेष उत्तार्यतेऽर्कः॥

व्रजति विषयमक्ष्णामंशुमाली न यावत्
तिमिरमखिलमस्तन्तावदेवारुणेन।

परपरिभविते जस्तत्वतामाशु कर्त्तुं
प्रभवति हि विपक्षोच्छेदमग्रोसरोऽपि ॥[१]

अब बताइए कि क्या प्रभातबेला सद्योजाता बालिका-सी प्रतीत होती है ? अथवा दिशारूपी स्त्रियाँ, किरणरूपी रस्सियों से, सूर्यरूपी घड़े को खींचती प्रतीत होती हैं ? इस वर्णन द्वारा यह स्पष्ट लक्षित होता है कि कवि को दृश्य के एक एक सूक्ष्म व्यापार का चित्रण करने की कोई चिन्ता नहीं है। वस्तु-प्रत्यक्षीकरण द्वारा चित्र पूरा करना उसका उद्देश्य नहीं है। उसका प्रधान लक्ष्य अद्भुत और विचित्र उपमाओं द्वारा एक आडंबर खड़ा करना है।

महाकवि श्रीहर्ष के भी प्रभात और संध्या-वर्णन ऐसे ही हैं। प्रभात का वर्णन करते हुए कवि कहता है—

रविरुचिऋचामोङ्कारेषु स्फुटामलबिन्दुतां।
गमयितुममूरुचीयन्ते विहायसि तारकाः ॥

१—अरुण कमलरूपी कोमल हाथ-पैरवाली, मधुपमालारूपी कज्जलयुक्त कमल-नेत्रवाली पक्षियों के कलरवरूपी यह प्रभात-बेला सद्योजात बालिका के समान रात्रिरूपी अपनी माता की ओर लपकी आ रही है। जिस प्रकार घड़ा खींचते समय स्त्रियाँ कुछ कोलाहल करती हैं उसी प्रकार पक्षियों के कोलाहल से पूर्ण दिशारूपी स्त्रियाँ दूर तक फैली हुई किरणरूपी रस्सियों से सूर्यरूपी घोड़े को बाँधकर बड़े भारी कलश के समान समुद्र के भीतर से खींचकर ऊपर निकाल रही हैं। सूर्य के उदय होने से पहले ही सूर्य के साथी अरुण ने सारा अंधकार दूर कर दिया। बैरियों को नष्ट करनेवाले स्वामियों के आगे चलनेवाला सेवक भी शत्रुओं के मारने में समर्थ होता है।

[शिशुपालवधम् ११ वां सर्ग]

स्वरविरचनायासामुच्चैरुदात्ततया हृताः ।
शिशिरमहसो बिम्बादस्मादसंशयमंशवः ॥
त्रिदशमिथुनक्रीडातल्पे विहायसि गाहते ।
निधुवनधुतस्रग्भागश्रीभरं ग्रहसंग्रहः ॥
मृदुतरकराकारैस्तूलात्करैरुदरम्भरिः ।
परिहरति नाखण्डो गण्डोपधानविधां विधुः ॥
प्रथममुपहृत्यार्घं तारैरखण्डिततण्डुलैः
तिमिरपरिपद्दूर्वापर्वावलीशबलीकृतैः ।
अथ रविरुचां ग्रासातिथ्यं नभः स्वविहारिभिः
सृजति शिशिरक्षोदश्रेणीममैरुदसक्तुभिः ॥[1]

[नैषध सर्ग १९ श्लो० ७, ९, १४]

पूरा वर्णन ऐसा ही है। संध्या में भी वे दूर दूर की कौड़ी लाए हैं। यथा—

उच्चैस्तरादम्बरशैलमौले-
श्च्युतो रविर्गैरिकगण्डशैलः ।

१—सूर्य किरण-रूपी वेद-ऋचाओं के पहले आनेवाले 'ओं' का अनुस्वार बनने के लिए तारे लिए जा रहे हैं। इन ऋचाओं के उच्च और उदात्त स्वर इत्यादि बनाने के लिए चंद्रमा से किरणें ले ली गई हैं। देव दम्पतियों की क्रीड़ाशैय्या रूपी आकाश में तारावली केलि में फैली हुई पुष्पमाला भाग के समान जान पड़ती है और चन्द्रमा अपनी सुकुमार किरणों रूपी रूई से भरा तकिया ज्ञात होता है। आकाश पहले सूर्य-किरणों का तारामंडल-रूपी अखंड तंडुलों और अंधकार रूपी दूर्वा-दल से स्वागत करता है और फिर आकाश में उड़ते हुए हिमचूर्ण रूपी सत्तू खाने को देता है।

[नैषध सर्ग १९ श्लोक ७, ९, १४]

तस्यैव पातेन विचूर्णितस्य
सन्ध्यारजोराजिरिहोज्जिहीते ॥
कालः किरातः स्फुटपद्मकस्य
बधं व्यधाद्यस्य दिनद्विपस्य ।
तस्यैव सन्ध्यारुचिरास्रधारा ताराश्च
कुम्भस्थलमौक्तिकानि ॥
पचेलिमं दाडिममर्कबिम्बमुत्तार्य्य—
सन्ध्या त्वगिवोज्झिताऽस्य ।
तारामयं बीजभुजादर्शीयं कालेन
निष्ठ्यूतमिवास्थियूथम् ॥[१]

[नैषध सर्ग २२ श्लो० ४, ६, १४]

इन दोनों वर्णनों में भी कवि का लक्ष्य दृश्य-वर्णन की ओर नहीं है वरन् भाँति भाँति की उत्प्रेक्षाओं द्वारा एक अजायबघर बनाने की ओर है। ऐसे वर्णन संस्कृत काव्य में भरे पड़े हैं। महाकवि बाणभट्ट की कादम्बरी में इस प्रकार के अनेक वर्णन हैं जैसे अच्छोद सरोवर का वर्णन। महाकवि कालिदास तो उपमा देने में अद्वितीय थे ही। यद्यपि प्रकृति के संश्लिष्ट खण्डचित्र

१—आकाश रूपी उत्तुङ्ग शृंग से गेरू के शिलाखंड के समान सूर्य गिर पड़ा है और उसके चूर्ण होने से जो धूल उड़ी है वही संध्या-लालिमा के रूप में फैल रही है। कालरूपी किरात ने दिवस-रूपी हाथी को, जिसके मुख पर कमल रूपी बिंदु है, मार डाला। गोधूलि उसका रक्त और तारे गजमुक्ता हैं। काल ने सूर्य-रूपी अनार तोड़ लिया है और दाने खाकर छिलकारूपी गोधूलि और तारा-रूपी बीज फेंक दिए हैं।

[नैषध २२वाँ सर्ग श्लोक ४, ९, १४]

उपस्थित करने में भी वे पटु थे, परंतु कहीं कहीं उन्होंने भी दृश्य-वर्णन न करके उसे उपमाओं से भाराक्रान्त कर दिया है। उनका गंगा-यमुना-संगम का वर्णन ऐसा ही है—

क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलै
　　मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा।
अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दी—
　　वरैरुत्खचितान्तरेव॥
क्वचित्खगानां प्रियमानसानां
　　कादम्बसंसर्गवतीव पंक्तिः।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा
　　भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव॥
क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभि-
　　श्छायाविलीनैः शबलीकृतेव
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा
　　रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभप्रदेशा॥
क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव
　　भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य।
पश्यानवद्याङ्गि विभाति गङ्गा
　　भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः[१]॥
　　　　[रघुवंश सर्ग १३ श्लोक ५४–५७]

१—यमुना की नीली तरंगों से पृथक् किया गया गंगा का प्रवाह बहुत ही भला ज्ञात होता है। कहीं वह बीच बीच में प्रभापूर्ण नीलम से गुथे हुए मुक्ताहार के सदृश, कहीं बीच बीच में नीले कमल पोहे हुए श्वेत कमलों की माला सी, कहीं मानसरोवर प्रेमी राजहंसों की पंक्ति सी जिनके बीच नीले पाँव वाले कदम्ब नामक हंस बैठे हों, कहीं कालागरु

परंतु एक बात यहाँ पर कह देना उचित है कि महाकवि कालिदास की उपमाओं में वर्ण तथा प्रभाव-साम्य पर बराबर दृष्टि रखी गई है। अप्रस्तुतों के रूप में जो वस्तुएँ लाई जाती हैं वे केवल प्रभाव को तीव्र करने के लिए, वस्तुओं के संबंध में सौन्दर्य, विशालता आदि के अनुभव में सहारा देने के लिए। अतएव ये अप्रस्तुत वस्तुएँ ऐसी होनी चाहिए जिससे कि प्रत्येक मनुष्य के मन में वे ही भाव उठते हों जो कि प्रस्तुत के दर्शन द्वारा। कालिदास की उपमाओं में इस बात पर ध्यान रखा गया है। परंतु अन्य कवियों की उपमाएँ केवल दूर की उड़ान और चमत्कारविधायक ही हैं। इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि प्रभाव-साम्य पर दृष्टि रखकर कवि जितनी उपमाएँ चाहे लादता चला जाय, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का प्रयोग वहीं तक उचित है जहाँ तक श्रोता या पाठक को बिम्बग्रहण में बाधा न पहुँचे।

यह संस्कृत-साहित्य के प्रकृति-वर्णन की एक झलक मात्र है। ऊपर आए हुए तथा अन्य कवियों के भी अनेक प्रकृति-वर्णन मिलेंगे। प्रकृति-वर्णन संस्कृत-काव्य की एक विशेषता रही है। प्रायः सभी प्रबंधकाव्यों में प्रकृति-वर्णन, ऋतु-वर्णन, स्थल-वर्णन, प्रभात-संध्या-वर्णन आदि मिलेंगे। इतना ही नहीं नाटकों में भी उन्होंने प्रकृति-वर्णन का अवसर निकाल लिया है, जैसे

के बेल बूटे सहित चंदन से लिपी पृथ्वी सी, कहीं छाया में छिपे अँधेरे के कारण कालिमा दिखाती चाँदनी सी, कहीं खाली जगहों से थोड़ा थोड़ा नीला आकाश दिखाती शरत्काल की श्वेत मेघमाला सी, और कहीं सर्पाभरण किए और भस्म धारण किए महादेवजी के शरीर के समान प्रतीत होती है।

[रघुवंश सर्ग १३ श्लोक ५४-५७]

भवभूति ने। सारांश यह कि जहाँ भी प्रकृति-वर्णन का अवसर आया है, उसे उन्होंने हाथ से नहीं जाने दिया है। यह दूसरी बात है कि किसी ने उसका सदुपयोग किया है और किसी ने दुरुपयोग। वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति, भारवि आदि के और भी वर्णन आलंबन के रूप में हैं। इसी प्रकार उद्दीपन और अप्रस्तुत की भरमार वाले वर्णन भी ऊपर उद्धृत अंशों के अतिरिक्त, बाण, माघ, श्रीहर्ष आदि में मिलेंगे। सुभाषित-संग्रहों में तो ऐसे वर्णन आँख बंद करके ढूँढ़ने पर भी मिल जायँगे।

संस्कृत-काव्य के परवर्ती कवियों ने, जैसा कि इस प्रकरण के विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा, प्रकृति-वर्णन में उद्दीपन और अप्रस्तुत ही प्रधान रखा। यही परवर्ती कवियों वाली रीति परंपरा की भाँति हिंदी में भी आ गई। आगामी प्रकरण में हम प्राचीन हिंदी कविता में प्रकृति-वर्णन का स्वरूप देखेंगे।

तृतीय प्रकरण

प्राचीन हिंदी-कविता में प्रकृति-वर्णन

पिछले प्रकरण में संस्कृत-साहित्य की जो झलक दिखाई गई है उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि परवर्ती कवियों माघ, श्रीहर्ष, बाण आदि की प्रवृत्ति प्रकृति के यथातथ्य चित्रण की ओर न होकर चमत्कार उत्पन्न करने की ओर हो चुकी थी। उनके दृश्य-वर्णनों में उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, अर्थान्तरन्यास आदि की भरमार होती थी। ऋतुओं का वर्णन उद्दीपन की दृष्टि से किया जाने लगा था। जिनमें केवल वस्तुओं के नाम गिनाकर काम चला लिया जाता था। बिम्बग्रहण कराने की ओर प्रवृत्ति नहीं रह गई थी। संस्कृत-काव्य लक्ष्यच्युत हो चुका था।

ऐसे ही समय में हिंदी-काव्य का प्रादुर्भाव हुआ। संस्कृत-काव्य की यह अंतिम कवियों वाली परंपरा ज्यों की त्यों हिंदी कविता में चली आई। फलस्वरूप हिंदी कवियों में प्रकृति का वर्णन आलम्बन रूप में मिलता ही नहीं। हिंदी कवियों में प्राचीन संस्कृत कवियों का सा वह सूक्ष्म निरीक्षण नहीं है जिससे प्राकृतिक दृश्यों का संपूर्ण चित्र सामने उपस्थित हो जाता है। यदि कहीं इस प्रकार के वर्णन की चेष्टा भी की गई है तो केवल वस्तुओं का उल्लेख करके इनी गिनी वस्तुओं का नाम लेकर, पुरानी रस्म अदा की गई है। हाँ, उद्दीपन के रूप में अवश्य प्रकृति का प्रयोग प्रचुर परिमाण में है। अप्रस्तुत के रूप में भी पर्याप्त वर्णन मिलता है। एक विशेषता और है कि जितनी भी प्रकृति-वर्णन-विषयक कविता है वह ऋतु-वर्णन के रूप में, स्थल-चित्र

नहीं है। इन्हीं ऋतु-वर्णनों में कुछ वस्तुओं का परिमार्जन कराकर और नायक अथवा नायिका को हँसा रुला कर ही वे संतुष्ट हो गए हैं।

हिंदी कविता को हम साधारणतया दो भागों में बाँट सकते हैं—एक तो प्राचीन अर्थात् आरंभ से लेकर भारतेन्दु हरिचन्द्र के पहले तक और दूसरा अर्वाचीन अर्थात् भारतेंदु हरिश्चंद्र से लेकर आज तक। उपर्युक्त कथन प्राचीन कविता के ही विषय में प्रयोज्य है और इस प्रकरण में हम प्राचीन कविता को ही दृष्टि में रखेंगे।

प्राचीन कविता में आलम्बन के रूप में प्रकृति-वर्णन का अभाव सा है। मेघदूत, शकुन्तला, उत्तररामचरित, रघुवंश आदि के समान स्थल-चित्र हिंदी में नहीं हैं।

आलम्बन

संभवतः यह कमी हिंदी में प्रबंधकाव्यों की कमी के कारण हो। पद्मावत और रामचरितमानस ये ही दो प्रसिद्ध प्रबंधकाव्य प्राप्त हैं। केशवदास के पीछे तो प्रबंधकाव्य एक प्रकार से बंद ही हो गए। आचार्य बनने की ही चिंता कवियों को रहने लगी, कवि बनने की नहीं। अलंकार और नायिकाभेद के लक्षण-ग्रंथ लिखकर उदाहरण देने में ही कविकर्म की सिद्धि मानी जाने लगी। अतएव इन फुटकर कविता करनेवालों की परिमित कृति में प्राकृतिक दृश्य ढूँढ़ना ही व्यर्थ है। दो चार आख्यान-काव्य हैं भी तो उनमें अलंकार-प्रधान वर्णन हैं। पदमावत और रामचरितमानस में प्रकृति-वर्णन का पूरा अवसर था। परन्तु जायसी और तुलसी की दृष्टि ही इस ओर नहीं थी। जायसी ने षट्ऋतु और बारहमासा प्रथानुसार लिखा तो है परन्तु वह उद्दीपनात्मक ही है। उसमें केवल परंपरा-पालन है, कवि का अपना निरीक्षण कुछ भी नहीं। चित्रकूट,

पंचवटी आदि स्थानों में गोस्वामी जी के राम-लक्ष्मण में प्राकृतिक रूपव्यापारों के प्रति वह आनन्द नहीं है जो कि वाल्मीकि के राम-लक्ष्मण में। जहाँ वाल्मीकि जी के लक्ष्मण पंचवटी में पहुँच कर हेमन्त और वर्षा आदि का सूक्ष्म वर्णन करते हैं वहाँ तुलसीदास के लक्ष्मण राम से यह सुन रहे हैं कि

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥

फिर भी यदि प्राचीन कवियों की थोड़ी बहुत छाया किसी कवि में दिखाई देती है तो वह तुलसीदास जी में ही। यद्यपि उन्होंने अधिकतर परंपरा-पालन ही किया है फिर भी कहीं कहीं उनके स्वाभाविक हृदय-विस्तार के कारण संश्लिष्ट चित्रण भी हुआ है। गीतावली में उन्होंने चित्रकूट का बहुत विस्तृत वर्णन किया है। उन्हीं में कहीं कहीं इस प्रकार के वर्णन मिलते हैं जैसे—

सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रँगमगे ंगनि।
मनहुँ आदि-अम्भोज बिराजत सेवित सुर मुनि भृङ्गनि॥
सिखर परस घन घटहिं मिलत बगपाँति सो छवि कवि बरनी।
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी॥
जलजुत बिमल सिलनि झलकत मनु बन-प्रतिबिम्ब तरंग।
मानहु जगरचना बिचित्र बिलसत बिराट अँग अंग॥

यद्यपि गोस्वामी जी अपनी उत्प्रेक्षा 'वाली प्रवृत्ति अथवा परम्परा को रोक न सके जिसके कारण बिम्ब-ग्रहण में थोड़ी सी बाधा पड़ती है तथापि मन्द मन्द गरजते हुए बादलों का गेरू-रंजित शृङ्गों से लगा दिखाई देना और उन बादलों से मिली श्वेत बकपंक्ति और फिर उस पर्वत के नीचे स्वच्छ शिलाओं पर फैले हुए, जल में आकाश और बनस्थली का प्रतिबिम्ब आदि व्यापारों की संश्लिष्ट योजना द्वारा पूर्ण चित्र उपस्थित होता है और गोस्वामी जी का सूक्ष्म निरीक्षण सूचित करता है। परंतु गोस्वामी

जी के अधिकांश वर्णन केवल शब्दसौंदर्य-प्रधान हैं जिसमें वस्तु-परिगणन मात्र है। जैसे—

फटिक-सिला मृदु बिसाल संकुल सुरतरु तमाल
ललित लता-जाल हरात छबि बितान की।
मन्दाकिनि तटिनि तीर, मंजुल मृग बिहग भीर
धीर मुनि गिरा गभीर, सामगान की।
मधुकर पिक बमहिं मुखर सुन्दर गिरि निर्झर झर
झलकत बनछांह छनप्रभा न भान की।
सब ऋतु ऋतुपति प्रभाउ सन्तत बहै त्रिबिध बाउ
जनु बिहार वाटिका नृप पंचबान की॥
(गीतावली)

इस प्रकार के वर्णन कुछ मिलेंगे। महाकवि सूरदास की दृष्टि भी परिमित है। उन्होंने व्रज की गोचारण-भूमि के बाहर पैर ही नहीं रखा। वृंदावन का भी सूक्ष्म वर्णन उन्होंने कहीं नहीं लिखा है। यमुना, वंशीवट आदि उद्दीपन के ही रूप में आते हैं। भ्रमरगीत के पावस आदि का प्रथानुसार वर्णन तो है परंतु उसका रूप विरहिणी गोपियों का मानस-प्रदत्त रूप है। केवल कहीं कहीं नियत वस्तुओं की गिनती में कुछ परिवर्द्धन मिलता है। जैसे—

बरन बरन अनेक जलधर अति मनोहर बेष।
यहि समय यह गगन सोभा सबन तें सुबिसेष॥
उड़त बक सुक वृन्द राजत रटत चातक मोर।
बहु भाँति चित हित रुचि बढ़ावत दामिनी घन घोर॥
हंस, पिक, सुक, सारिका अलि पुंज नाना नाद।
मुदित मंगल मेघ बरसत, गत बिहंग विषाद॥

कुमुद कुन्द, कदम्ब, कोविद, कर्णिकार सकंज।
केतकी करवीर, चिलक वसन्त सम तरु मंजु॥

यह नामावली कवि के अपने निरीक्षण का फल नहीं है। जिसकी सूचना कुमुद और कोविद दे रहे हैं। कुमुद की तो पत्तियाँ भी वर्षा में नहीं बढ़ी रहतीं और कचनार बसन्त में शोभित होता है।

नन्ददासजी का भी ब्रजभूमि-वर्णन इसी प्रकार का है। उन्होंने भी दृश्य अंकित करने का प्रयत्न नहीं किया है। वस्तुओं की गिनती गिनाकर और यह कहकर कि वहाँ चिर बसंत रहता है छुट्टी ले ली। केशव को अपने श्लेष, यमक आदि के चमत्कार से ही फुरसत नहीं थी कि वे प्रकृति के चित्र उपस्थित करते। रामचंद्रिका में स्थल और ऋतु के वर्णन आए हैं पर सबके ऊपर अलंकारों का दुर्वह बोझ लदा है। वे यदि दस पाँच चीजों का सीधी तरह से नाम गिना जायँ तो यह उनकी कृपा समझनी चाहिए। अन्य कवि भी लकीर पीटने वाले ही हुए। नाम गिनाने वाली प्रथा अनुप्रासों और अलंकारों की अनावश्यक योजना के साथ जोर पकड़ती गई। पद्माकर, ग्वाल आदि के वर्णन इसी प्रकार के हैं।

परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि हिंदी में अच्छा प्रकृति-वर्णन मिलता ही नहीं। मिलता है परंतु बहुत थोड़ा और वह भी बहुत ढूँढ़ने पर एक आध स्थान पर। परंतु ऐसे वर्णन एक प्रकार से अपवाद-स्वरूप हैं। उदाहरणार्थ यह ग्रीष्म ऋतु का वर्णन देखिए—

वृष को तरनि तेज सहसौं किरनि तपै,
ज्वालनि के जाल विकराल बरसतु है।
तपति धरनि जग झुरत झरनि,

मीरी छाँह को पकरि पंथी पक्षी बिरमतु है ॥
'सेनापति' नेक दुपहरी ढरकत,
हात घमका बिषम जो न पातु खरकतु है ।
मेरे जान पौन सारे ठौर को पकरि काहू,
घरी एक बैठि कहूँ घामैं बितवतु है ॥
(सेनापति)

इस वर्णन के दृश्यांकन की पद्माकर के निम्नलिखित वर्षा-वर्णन से तुलना करने पर उत्तमता स्पष्ट हो जायगी—

मल्लिकान मंजुल मिलिन्द मतवारे मिले,
मन्द मन्द मारुत मुहीम मनसा की है ।
कहै 'पद्माकर' त्यों बादल नदीन नित,
नागर नवेलिनि की नजर निसा की है ॥
दौरत दरेरे देत दादुर सुदूँदैं दीह,
दामिनी दमंकति दिसानि में दसा की है ।
बद्दलनि बुन्दनि बिलोको बगुलानि बाग,
बंगलनि बेलिन बहार बरसा की है ॥
(पद्माकर)

सेनापति ने चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न किया है, परंतु पद्माकर जी ने अनावश्यक अनुप्रास-योजना के साथ वस्तु-परिगणन मात्र कराया है । सेनापति के अन्य वर्णन भी अच्छे हैं ।

परंतु इस प्रकार की गिनती गिनाने में भी कवियों ने भद्दी भूलें की है परंपरा-पालन की प्रथा ने इतना जोर पकड़ा कि कवियों ने अपने प्रत्यक्षानुभव से काम लेना छोड़ दिया और आचार्यों ने जहाँ जिस बात के वर्णन का आदेश किया था उन्हीं का उल्लेख कर दिया । परन्तु केवल गिनती गिनाना ही वस्तु-विन्यास नहीं है । आस-पास की अन्य वस्तुओं के बीच में उनकी स्वाभाविक

रीति से स्थापना करके, दृश्य के एक पूर्ण सुसंगत रूप की योजना, चित्रण का प्रयत्न कहा जायगा। उदाहरणार्थ महाकवि केशवदास का मिथिला के जंगलों का वर्णन लीजिए। वाल्मीकि कालिदास प्रभृति प्राचीन कवियों ने वृक्षों आदि के उल्लेख में देश का पूरा ध्यान रखा है। हिमालय के वर्णन में भूर्ज, देवदारु आदि और दक्षिण के वर्णन में एला, लवंग, नारिकेल आदि का वर्णन है। परंतु केशवदासजी ने जो जो नाम याद आए हैं उन्हें अनुप्रास का ध्यान रखते हुए जोड़ दिया है—

तरु-तालीस, तमाल ताल, हिन्ताल मनोहर।
मंजुल वंजुल तिलक बकुल-कुल नारिकेर बर॥
एला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहैं।
सारी, सुक कुल कलित चित्र कोकिल अलि मोहैं॥

(रामचन्द्रिका)

आचार्यवर को कदाचित् इसका ज्ञान नहीं था कि एला, लवंग, पुंगीफल आदि अयोध्या और मिथिला के बीच के जंगलों में नहीं होते। अथवा यों कहिए कि उन्हें यह भौगोलिक ज्ञान नहीं था कि मिथिला दक्षिण में अथवा दक्षिण मिथिला में नहीं है। कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि कवि को अपने अनुभव से भी काम लेना चाहिए, आप्त वाक्य से ही नहीं। आँख बंद करके परंपराओं का पालन कवि की अज्ञता का ही है। रूढ़ियों का, कवि-परंपराओं का, पालन एक सूचक होता सीमा तक ही उचित है।

उद्दीपन के रूप में प्रकृति का, अर्थात् ऋतुओं का, वर्णन प्राचीन हिंदी कविता में प्रचुर मात्रा में मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति का ध्यान आते ही, ब्रजभाषा के कवियों को

ऋतुओं का, और ऋतुओं का ध्यान आते ही उद्दीपन का ध्यान आ जाता था। फिर क्या था; प्राचीन आचार्य यह कह ही गए थे कि किस ऋतु में किस वस्तु का वर्णन करना चाहिए, बस उन्हीं का उल्लेख करके, नायक या नायिका को उन्हीं के बीच स्थापित करके, उन्हें आनंद-पारावार अथवा वियोग-समुद्र में डूबने उतराने के लिए छोड़कर किनारे हो गए। हिंदी कवियों का मार्ग बड़ा सरल था। वे आचार्यों के राजपथ पर चलते थे। इस प्रकार के वर्णनों का कारण मुख्यत: आचार्यों का प्रकृति को आलंबन के रूप में न मानना ही है। चन्द्र, चन्द्रिका, ऋतु आदिक को आचार्यों ने उद्दीपन ही कहा है। ब्रजभाषा काव्य का शृङ्गारोन्मुखी होना भी इसका एक कारण है। संपूर्ण ब्रजभाषा काव्य इस प्रकार के वर्णनों से भरा है।

उद्दीपन

पहले कह चुके हैं कि जायसी और तुलसी को अपने प्रबंध काव्यों में प्रकृति-वर्णन का पूर्ण अवकाश था, परंतु उसका उपयोग नहीं किया गया। जायसी ने अपने वर्णनों में लंबी लंबी फेहरिस्तें दी हैं। षड्ऋतु और बारहमासा के वर्णन उद्दीपनात्मक हैं और इसी कारण परंपरानुसार। परंतु उद्दीपन की दृष्टि से वे बड़े सुंदर हैं। जैसे उनका यह पावस लीजिए—

ऋतु पावस बरसै पिउ पावा। सावन भादौं अधिक सुहावा॥
पदमावति चाहति ऋतु पाई। गगन सोहावत, भूमि मोहाई॥
कोकिल बैन, पाँति बग छूटी। धनि निसरी जनु बीरबहूटी॥
चमक बीजु बरसै जल सोना। दादुर मोर सबद सुठि लोना॥
सीतल बूँद ऊँच चौपारा। हरियर सब देखाइ संसारा॥
हरियर भूमि कुसुम्भी चोला। औ धनि पिउ सँग रचा हिंडोला॥

(पद्मावत)

संयोग शृङ्गार की दृष्टि से यह वर्णन बड़ा ही मनोहर है। परंतु कवि का स्वयं अपना निरीक्षण केवल 'बरसे जल सोना' में ही है। शेष वर्णन परंपरानुसार ही है। यही हाल जायसी के विप्रलम्भ का भी है। वह भी रूढ़ि के अनुसार ही है।

(सूरदासजी के वर्णन भी, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, उद्दीपनात्मक ही हैं। उनके वर्णनों का स्वरूप गोपियों द्वारा, विरहिणी गोपियों द्वारा, निर्धारित है। कहीं उन्हें प्रतीत होता है कि इन्द्र ने सारी ब्रजभूमि पावस में मदन को जागीर-स्वरूप दे दी है। कभी यह प्रतीत होता है मानो कृष्ण ही पावस रूप में आ गए हैं। कहीं मोरों को उपालम्भ है, तो कहीं मेघों को उलाहना। सब जगह वही नाम गिना कर विरहोत्कर्ष की व्यंजना ही मुख्य है। उदाहरणार्थ—

कोउ सखि नई चाह सुनि आई।
यह ब्रजभूमि सकल सुरपति पै मदन मिलिक करि पाई॥
घन धावन बगपाँति पटो सिर बैरख तड़ित सुहाई।
बोलत पिक चातक ऊँचे सुर मनो मिलि देत दुहाई॥
दादुर मोर चकोर बदत सुक, सुमन समीर सहाई।
चाहत कियो वास वृंदावन विधि सों कहा बसाई॥
सींव न चापि सक्यो तब कोऊ हुते बल कुँवर कन्हाई।
अब सुनि सूर स्याम केहरि बिनु ये करिहैं ठकुराई॥

अन्य कवियों के वर्णन भी इसी प्रकार के हैं। सेनापति का वसन्त देखिए—

केतक, असोक, नव चम्पक, बकुल कुल,
कौन धौं बियोगिन को ऐसो बिकरालु है।
'सेनापति' साँवरे की सूरति की सूरति की,
सुरति कराय, करि डारतु बिहालु है॥

दच्छिन पवन एतो ताहू की दवन जऊ,
सूनो है भवन परदेस प्यारो लालु है।
लाल हैं प्रबाल फूले देखत बिसाल जऊ,
फूले और साल पै रसाल उर-सालु है॥
—(सेनापति)

स्पष्ट है कि कवि किसी दृश्य का चित्रण नहीं कर रहा है। कवि को वसन्त में केवल वियोगियों की दशा ही दिखाई दी। ऐसे ही अन्य कवियों के वर्णन भी हैं—

उमड़ि घुमड़ि घन छोड़त अखंड धार,
चंचला उठति तामें तरजि तरजि कै।
बरही पपीहा, भेक पिक खग टेरत हैं,
धुनि सुनि प्रान उठै लरजि लरजि कै॥
कहै कवि राम लखि चमक खदोतन की,
पीतम को रही मैं तो बरजि बरजि कै।
लागे तन तावन बिना री मनभावन के,
सावन दुवन आयो गरजि गरजि कै॥
—(राम)

घनन के घोर, सोर चारों ओर मोरन के,
अति चितचोर तैसे अंकुर मुनै रहैं।
कोकिलन कूक हूक होति बिरहीन हिय,
लूक से लगत चीर चारन चुनै रहैं॥
झिल्ली झनकार तैसी पिकन पुकार डारी,
मारि डारी डारी द्रुम अंकुर सु नै रहैं।
लुनै रहैं प्रान प्रानप्यारे जसवंत बिनु,
कारे पीरे लाल ऊदे बादर उनै रहैं॥
—(जसवंतसिंह)

इस प्रकार के वर्णन रीति-काल के प्रायः सभी कवियों में मिल जायँगे।

कोई कवि यदि इससे आगे बढ़ा तो उसने उस ऋतु में होने वाली अपने शरीर की दशा को देखा। उदाहरणार्थ ग्रीष्म का यह वर्णन देखिए—

ग्रीषम की गजब धुकी है धूप धाम धाम,
गरमी झुकी है जाम जाम अति तापिनी।
भीजे खस-बीजन झले हू ना सुखात स्वेद,
गात ना सुहात बात, दावा सी डरापिनी॥
ग्वाल कवि कहै कोरे कुम्भन तें, कूपन तें,
लै लै जलधार बार बार मुख थापिनी।
जब पियो तब पियो अब पियो, फेर अब,
पीवत हू पीवत मिटै न प्यास पापिनी॥
(ग्वाल)

इससे भी और आगे यदि कोई बढ़ा तो उसने उस ऋतु के उपचार का नुस्खा कह डाला। कौन कौन सी वस्तुएँ होने से उस ऋतु के प्रभाव से बचत हो सकती है, इसकी सूची दे दी। ऐसे वर्णन प्रायः ग्रीष्म, शिशिर और हेमन्त के हैं। ग्वाल का ग्रीष्म-सुख-स्वप्न देखिए—

जेठ को न त्रास जाके पास ये विलास होंय,
खस के मवास पै गुलाब उछर्यो करै।
बिही के मुरब्बे डब्बे, चाँदी के बरक भरे,
पेठे पाग केवरे में बरफ पर्यो करै॥
ग्वाल कवि चन्दन चहल में कपूर पूर,
चन्दन अतर तर बसन खर्यो करै।

कंजमुखी कंजनैनी, कंज के बिछौनन पै,
कंजन की पंखी करकंज तें करयो करै ॥
(ग्वाल)

गरीबों की पहुँच यहाँ कहाँ ? ये तो अमीरों के चोचले हैं। पद्माकरजी का शिशिर-वर्णन भी ऐसा ही है। उनके मसालों का स्वाद लीजिए—

गुलगुली गिलमै, गलीचा हैं, गुनीजन हैं,
चाँदनी हैं, चिक हैं, चिरागन की माला हैं।
कहैं 'पद्माकर' त्यों गजक गिजा हैं, सजो
सेज हैं, सुराही हैं, सुरा हैं और प्याला हैं॥
सिसिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हैं,
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।
तान तुक ताला हैं, बिनोद के रसाला हैं,
सुबाला हैं, दुसाला हैं, बिसाला चित्रसाला हैं॥
(पद्माकर)

अन्य कवियों के वर्णन भी इसी प्रकार के हैं। गरीबों को यह सब सुख-सामग्री दुर्लभ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सब दृश्य-चित्रण के प्रयत्न नहीं हैं। ऐसे वर्णन उद्दीपन के ही अन्तर्गत आवेंगे। गर्मी में चन्दन, कपूर, इत्र और बर्फ के जलाशय में बैठे, चाँदी के वर्क लगे पेठे और मुरब्बे खाते हुए, अथवा गुलाब-जल-सिंचित खस की टट्टी में बैठकर कंजमुखी, कंजनैनी के कर कंज से 'कंजन की पंखी' का आनंद लेते हुए कविजी से, तलैया के कीचड़ में जीभ निकाल कर बैठे हुए हाँफते कुत्ते के वर्णन के चित्रण का प्रयत्न अपेक्षाकृत उत्तम कहा जायगा। इसी प्रकार जाड़े में पश्मीना, मखमल, सुरा, सीसी, गलीचा, गज़क, सुबाला, दुशाला और चित्रशाला के वर्णन को

अपेक्षा, धूप में छत पर लेटी, पेट चाटती हुई बिल्ली के वर्णन का अधिक मूल्य होगा।

षट्ऋतु वर्णन—

यहाँ पर हिंदी के कवियों के षट्ऋतु वर्णन के विषय में कुछ कह देना अनुचित न होगा क्योंकि ऐसे वर्णन नाममात्र के ही वर्णन हैं। उनका उद्देश्य उद्दीपनात्मक ही है। हिंदी में यदि प्रकृति-वर्णन कहीं मिलता है तो इन उद्दीपनात्मक षट्ऋतु वर्णनों में ही। ऐसा जान पड़ता है कि यदि कवियों को उद्दीपन का वर्णन न करना होता तो वे ऋतु-वर्णनों के पास भी न फटकते। अतएव कहना पड़ेगा कि षट्ऋतु-वर्णन उद्दीपन की ही बदौलत रह गया। जायसी के षट्ऋतु और बारहमासे का उल्लेख हो चुका है। सेनापति, ग्वाल, पद्माकर, बेनीप्रवीन, द्विजदेव आदि ने भी षट्ऋतु वर्णन किया है। ग्वाल और पद्माकर के वर्णनों से ऊपर उद्धरण दिए जा चुके हैं। अन्य वर्णन भी ऐसे ही हैं, या कभी कभी रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा से युक्त हैं। सेनापति का वर्णन अन्य कवियों के वर्णन देखते हुए बहुत अच्छा है, परंतु उनमें भी उद्दीपनात्मक वर्णन आ ही गए हैं, जैसे—

सूरें तजि भाजी बात कातिक में जब सुनी,
हिम की हिमाचल तें चमू उतरति है।
आए अगहन कीनो गहन दहन हू को,
तितहुँ ते चलि कहूँ धीर न धरति है॥
हिय में परी है हूल, दौरि गहि तजी तूल,
अब निज मूल 'सेनापति' सुमिरति है।
पूस में तिया के ऊँचे कुच-कनकाचल में,
गढ़वै गरम भई सीत सों लरति है॥
(सेनापति)

प्रथम तीन चरणों में तो कवि सीधी सादी बात कह रहा था। परंतु कदाचित् समाप्त होते होते उससे नहीं रहा गया और अंतिम चरण में 'तिया के ऊँचे कुच-कनकाचल' का ध्यान आ ही गया। बेनीप्रवीन के वर्णन भी उद्दीपन की दृष्टि से जहाँ तक रमणीय हो सकते हैं, हैं।

परंतु ऋतु के उद्दीपनात्मक वर्णन ही काव्य की सिद्धि नहीं हैं। प्रकृति का अस्तित्व केवल मनुष्यों के संयोग में ही नहीं है, उसका अपना स्वतंत्र रूप भी है। लेकिन इसकी ओर इन कवियों का ध्यान नहीं था। किसी पूर्वप्रतिष्ठित भाव की प्रबलता व्यंजित करने के लिए जहाँ प्रकृति से व्यापार लिए जायँगे वहाँ तो वे उस भाव के रंग में रँगे होंगे ही। पद्माकर की विरहिणी का यह कहना "किंसुक गुलाब औ अनार कचनारन की डारन पै डोलत अँगारन के पुंज हैं" ठीक ही है। परंतु बराबर इसी रूप में प्रकृति को सामने लाना ठीक नहीं। ऐसा करना दृष्टि को संकुचित करना है। अपने ही सुख-दुःख में रँग कर प्रकृति को देखना कोई देखना नहीं है। संसार में मनुष्य ही तो सब कुछ नहीं है। प्रकृति का अपना अलग रूप भी है।

कभी कभी प्राकृतिक वस्तु-व्यापार मनुष्यों के रूप-व्यापार या मनोवृत्तियों के सादृश्य, साधर्म्य की दृष्टि से लाए जाते हैं। इनका स्थान भी प्रकृति-वर्णन की दृष्टि से,

अप्रस्तुत

उद्दीपन की भाँति गौण ही समझना चाहिए। वे नरसम्बन्धी भावना को तीव्र करने के लिए ही रखे जाते हैं। प्राचीन हिंदी कविता में इस प्रकार के जितने प्रयोग हैं उन्हें हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—(१) उपमान, रूपक और उत्प्रेक्षा, (२) रूपकातिशयोक्ति, (३) तथ्यव्यंजना अथवा अन्योक्ति और (४) दृष्टान्त। इन सब में या तो प्रस्तुत

विषय प्रकृति रहती है और उसपर नरक्षेत्र से अप्रस्तुत लेकर आरोप किया जाता है अथवा नरक्षेत्र प्रस्तुत रहता है और उसपर प्रकृति का आरोप किया जाता है। तात्पर्य यह कि इनमें कवि प्रकृति का वर्णन नहीं करता वरन् उसे भिन्न भिन्न प्रकार के अप्रस्तुतों की व्यंजना का साधन बनाता है। इसी कारण हमने इसे प्रकृति का अप्रस्तुत-वर्णन कहा है। अप्रस्तुत के रूप में जहाँ प्रकृति का प्रयोग होता है वहाँ तो होता ही है परंतु जहाँ प्रकृति-वर्णन ही प्रस्तुत विषय होता है वहाँ भी अप्रस्तुतों की भरती के कारण प्रकृति गौण हो जाती है।

उपमान, रूपक, उत्प्रेक्षा—

उपमान के रूप में प्रकृति के प्रयोग से तो सभी परिचित हैं। प्राकृतिक क्षेत्र से रूप-व्यापार लेकर उसे किसी अन्य रूपव्यापार की समता में रखना काव्य की बहुत साधारण बात है। यह तो कवि लोग किया ही करते हैं जैसे मुख की कमल, चन्द्र आदि से उपमा देना। इस विषय पर चौथे और पाँचवे प्रकरण में कुछ विचार प्रतीकों पर विचार करते समय किया जायगा। अतएव इनको अभी यहीं छोड़ते हैं।

प्रकृति का रूपक के रूप में प्रयोग दो प्रकार से होता है। एक में तो प्रकृति को प्रस्तुत करके किसी अन्य वस्तु या व्यापार से उसकी सांगोपांग समानता दिखाई जाती है। दूसरे में किसी अन्य वस्तु या व्यापार को प्रस्तुत करके प्रकृति को उपमान बनाकर सांग रूपक खड़ा किया जाता है। इस प्रकार की कविता भी, उद्दीपन की भाँति, हिंदी में बहुत मिलती है। उदाहरणार्थ देखिए 'सेनापति' ने वर्षा की उपमा, शरदऋतु के वर्णन में, वृद्धा स्त्री से दी है—

बिबिध बरन सुरचाप के न देखियत,
मानो मनि भूषन उतारि धरे भेस हैं।
उन्नत पयोधर बरसि रस गिरि रहे,
नीके न लगत, फीके, सोभा के न लेस हैं॥
'सेनापति' आए तें सरद ऋतु फूलि रहे,
आसपास कास खेत खेत चहूँ देस हैं।
जीवनहरन कुम्भजोनि के उदै तें भई,
बरषा बिरिध ताके सेत मानो केस हैं।
(सेनापति)

'ग्वाल' कवि का पावस 'मुजरा' करने के लिए 'फिरंगी' बन कर आता है—

तरल तिलंगन के तुङ्ग तेह तेजदार,
कानन कदम्ब को कदम्ब सरसायो है।
सूबेदार मोर घोर दादुर हवलदार,
बग जमादार औ तँबूर पिक भायो है॥
ग्वाल कबि बाढ़ै गरराट घन घट्टन की,
कम्पनी को कम्पू झला होय छबि छायो है।
भूपति उमंगी कामदेव जोर जंगी जान,
मुजरा को पावस फिरंगी बनि आयो है॥
(ग्वाल)

महाकवि केशव की रामचन्द्रिका में ऐसे उदाहरण बहुत हैं। कभी आप को पावस में सूर्य पर चढ़ाई करनेवाली सेना का आभास मिलता है और कभी वही वर्षा कालिका रूप में दिखाई देती है—

भौंहैं सुरचाप चारु प्रमुदित पयोधर,
भूखन जराय जोति तड़ित रलाई है।

दूर करी सुख मुख 'सुखमा ससी की नैन,
अमल कमलदल दलित निकाई है ।
'केसोदास' प्रबल करेनुका गमन हर,
मुकुत सुहंसक सबद सुखदाई है ।
अम्बर बलित मति मोहै नीलकंठ जू की,
कालिका कि बरखा हरखि हिय आई है ॥
(केशवदास)

यह तो प्रकृति को प्रस्तुत मानकर उसपर दूसरी वस्तुओं का आरोप हुआ परंतु जैसा कहा जा चुका है, प्रकृति के रूपव्यापारों का अन्य प्रस्तुत विषयों पर आरोप भी किया जाता है। इनमें उपमान और सांग रूपक दोनों आ जाते हैं, उपमा का ऐसा साफ उदाहरण, जैसा निम्नलिखित घनाक्षरी में है शायद ही कहीं मिले। प्रभात का रूपक धनुषयज्ञ के समय के साथ है—

फूलि उठे कमल से अमल हितू के नैन,
कहै 'रघुनाथ' भरे चैन रस सियरे ।
दौरि आए भौंर से करत गुनी गन गान,
सिद्ध से सुजान सुखसागर सों नियरे ॥
सुरभी सी खुलन सुकवि की सुमति लागी,
चिरिया सी जागी चिंता जनक के जियरे ।
धनुष पै ठाढ़े राम रवि से लसत आज,
भोर के से नखत नरिन्द परे पियरे ॥
(रघुनाथ)

महाकवि देव की कामिनी फुलवारी सी लगती है—

सूरजमुखी सो चन्द्रमुखी को बिराजै मुख,
कुन्दकली दन्त, नासा किंसुक सुधारी सी ।

मधुप से लोयन मधूकदल ऐसे ओंठ,
श्रीफल से कुच कच बेलि तिमिरारी सी ॥
मोती बेल कैसे फूली मोतिन में भूषन,
सचीर गुलचाँदनी सों चम्पक की डारी सी ।
केलि के महल फूलि रही फुलवारी,
'देव' ताही में पुज्यारी प्यारी भूली फुलवारी सी ॥
(देव)

कभी कभी कवि लोग किसी प्राकृतिक दृश्य को लेकर उसके ऊपर उत्प्रेक्षाओं की श्रेणी लादते चले जाते हैं। प्रस्तुत विषय प्राकृतिक रूपव्यापार होता है और उसका अनुभव उत्प्रेक्षाओं द्वारा कराया जाता है। संस्कृत में श्रीहर्ष के प्रभात और संध्या के वर्णन ऐसे ही हैं। इसी को मैंने प्रकृति का उत्प्रेक्षा के रूप में वर्णन कहा है। हिंदी में इस प्रकार के वर्णन भी बहुत हैं। उदाहरणार्थ केशव का यह सूर्योदय वर्णन देखिए—

अरुन गात अति प्रात पद्मिनी प्राननाथ भय।
मानहु 'केसोदास' कोकनद कोक प्रेममय ॥
परिपूरन सिन्दूर पूर कैधों मंगलघट।
किधौं सक्र को छत्र मढ्यो मानिक मयूख पट ॥
कै सोनित कलित कपाल यह किल कापालिक काल को।
यह ललित लाल कैधों लसत दिगभामिनि के भाल को ॥
(केशवदास)

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि कवियों की दृष्टि प्रस्तुत विषय अर्थात् प्रकृति-वर्णन की ओर न होकर चमत्कार की ओर अधिक थी जो कल्पना पहले भावों और रसों की सामग्री जुटाया करती थी। वह बाजीगर का तमाशा करने लगी। कहना नहीं होगा कि इन उदाहरणों में से अधिकांश में कला की अपेक्षा कलाबाजी

ही अधिक है। सावयव कल्पना, 'मजमून की पूरी बन्दिश, चमत्कार, अनूठापन आदि ही उनका लक्ष्य है। 'प्यारी' में फुलवारी की कल्पना करना, बाग में कालिका का रूप देखना, शरद् को वृद्धा वर्षा का रूप समझना, पावस को 'फिरंगी' बनाना केवल 'दिमागी कसरत' है, कविता नहीं। इनको हम सूक्ति कहें तो चाहे कह लें परंतु काव्य तो नहीं कह सकते। खैर, यहाँ एक सावयव कल्पना तो है, कुछ न कुछ साम्य का ध्यान रखा ही गया है। परंतु कहीं कहीं तो कवियों ने केवल नामसाम्य के आधार पर ही रूपक बाँध दिया है। केशवदास की रामचन्द्रिका में ऐसे अनेक पद भरे पड़े हैं। उदाहरण के लिए आप का दण्डक-वर्णन देखिए—

सोहत दण्डक की रुचि बनी। भाँति भाति सुन्दर घनी॥
सेव बड़े नृप की जनु लसै। श्रीफल भूरि भयो जहँ बसै॥
बेर भयानक सी अति लगै। अर्थ समूह जहाँ जगमगै॥
पाण्डव की प्रतिमा सम लेखौ। अर्जुन भीम महामति देखौ॥
है सुभगासम दीपति पूरी। सिन्दुर औ तिलकावलि रूरी॥

(केशवदास)

अब बताइए इस वर्णन में बेर और काल में, आक और सूर्य में, अर्जुन भीम नामक वृक्षों और पाण्डवों में, सिंदूर तिलक नामक वृक्षों और सौभाग्यवती स्त्री में नामसाम्य के अतिरिक्त और कोई भी साम्य पाया जाता है? अलंकार की भद्दी भरती के चमत्कार के अतिरिक्त, हृदय को स्पर्श करनेवाली, या किसी भावना में निमग्न करनेवाली कोई बात है? क्या कोई भावुक इन्हें शुद्ध काव्य कह सकता है? केशव को क्या मिलता, दण्डक वन क्या दे देता, जो वे उसके रूप का विश्लेषण

करने बैठते ? राजा की सेवा में श्रीफल को प्राप्ति होती थी, अतएव उसका उल्लेख है।

परंतु कहीं कहीं किसी किसी कवि ने रूपकों के साथ बड़ी सुंदर भावव्यंजनाएँ की हैं। उदाहरणार्थ मतिराम का यह सवैया लीजिए—

दोऊ अनंद सों आँगन माँझ बिराजैं असाढ़ की साँझ सुहाई।
प्यारो के बूझत और तिया को अचानक नाम लियो रसिकाई॥
आई उभै मुँह में हँसी कोहि तिया पुनि चाप-सी भौंह चढ़ाई।
आँखिन तें गिरे आँसू के बूँद सुहास गयो उड़ि हंस की नाईं॥
—मतिराम

अंतिम दो पंक्तियों में वर्षा के व्यंग्य-रूपक का जो चमत्कार है वह भाव-शबलता की छटा के साथ बड़े सुंदर ढंग से संयोजित है।

रूपकातिशयोक्ति—

रूपकातिशयोक्ति में केवल उपमानों का कथन किया जाता है, उपमेय का नहीं। उपमेय व्यंग्य होता है अथवा यह कहिए कि उममेय का अनुमान कर लिया जाता है। अतएव ऐसे उपमान प्रसिद्ध और परंपरा-सिद्ध होते हैं। प्रकृति का इस रूप में प्रयोग एक प्रकार का कौतुक खड़ा करना है। अधिकतर इसका प्रयोग नायिका के रूप-वर्णन के लिए होता है। 'सूरदास' जी का 'अद्भुत, अनूपम' बाग देखिए—

अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गजवर क्रीडत, तापर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरवर सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ता ऊपर यक मनिधर नाग॥

अंग अंग प्रति और और छबि, उपमा ताको करत न त्याग।
सूरदास प्रभु पियहु सुधारस मानहु अधरन को बड़ भाग॥

—सूरदास

जरा कल्पना तो कीजिए कि एक कमल है, उसके ऊपर हाथी, उसके ऊपर शेर, शेर के ऊपर तालाब, इसके भी ऊपर पहाड़, पहाड़ के ऊपर प्रफुल्ल कमल, कमल पर कपोत, कपोत पर अमृतफल, फल पर पुष्प, पुष्प पर पल्लव, पल्लव पर शुक, पिक और कौवा, इनके ऊपर खंजन, धनुष और चन्द्रमा और सबके पर साँप! कोई चीज़ कल्पना में आई? न तो कोई प्राकृतिक चित्र उपस्थित हुआ और न नायिका का स्वरूप। यदि नायिका कहीं रही भी होगी तो हाथी, पहाड़ आदि के बोझ के नीचे दब गई होगी। यदि कोई चित्र कल्पना में आवेगा भी तो जान पड़ेगा कि मानो अलादीन के चिरागवाले जिन के साथ हम किसी जिन के अजायबखाने में पहुँच गए हैं। परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि यह बाग अद्भुत है, अनुपम है।

महाकवि 'केशव' किसी से पीछे रहनेवाले थोड़े ही हैं। आप भी फरमाते हैं—

सोने की एक लता तुलसी बन क्यों बरनौं सुनि बुद्धि सकै छ्वै।
'केशवदास' मनोज मनोहर ताहि फले फल श्रीफल से द्वै॥
फूलि सरोज रह्यो तिन ऊपर रूप निरूपम चित्त चलै च्वै।
तापर एक सुवा सुभ तापर खेलत बालक खंजन के द्वै॥

—केशवदास

देखिए कैसी करामात है और सराहना कीजिए। रूपकातिशयोक्ति एक भद्दी वस्तु है इसे आजकल बहुत से विद्वान् मानते हैं।

दृष्टांत और उपदेश—

इसमें प्रस्तुत विषय प्रकृति ही रहती है परंतु कवि अप्राकृतिक व्यापारों से धर्म और उपदेश की व्यंजना ग्रहण करता है। वह उन प्राकृतिक व्यापारों की समता में धार्मिक या उपदेशात्मक दृष्टांत रखता है। रामचरितमानस में सन्निविष्ट श्रीमद्भागवत के आधार पर किए गए वर्षा और शरद् के वर्णन इसी प्रकार के हैं। ये बहुत प्रसिद्ध हैं अतएव मैं उद्धरण नहीं दे रहा हूँ। इनमें प्रत्येक प्राकृतिक व्यापार से उपदेश ग्रहण करने और कराने की चेष्टा की गई है। कवि की दृष्टि प्रकृति की रूप-योजना की ओर कम, उपदेश देने की ओर अधिक है। सारा वर्णन दृष्टांत रूप उपदेशों का भाण्डार-सा प्रतीत होता है हमारे मानस-चक्षु के सम्मुख किसी चित्र का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता। कोई प्राकृतिक रूप कल्पना में आया नहीं कि उसे उपदेश आकर धर दबाता है। बाबाजी की दृष्टि 'बरखहिं जलद भूमि नियराये' की ओर न होकर दूसरी पंक्ति 'जथा नवहिं बुध विद्या पाये' की ओर अधिक प्रतीत होती है। ऐसा जान पड़ता है कि मानो कोई उपदेशक किसी ऊँचे शिलाखंड पर बैठकर उन ऋतुओं में अपने श्रोताओं से कहता हो कि "बच्चा! यह सब अलौकिक, सुंदर आकर्षक रूपव्यापार जो तुम देख रहे हो मायामय है।" उपदेश देना बुरा नहीं। परंतु प्रकृति के वर्णन में उसी की भरमार कर देना कवि का उन दृश्यों के साथ तादात्म्य न होना ही सूचित करता है।

महाराज जयसिंह ने अपनी 'हरि-चरित्र-चद्रिंका' में इसी प्रकार का वर्णन किया है। संभवतः गोस्वामीजी को देखकर ही उन्होंने ऐसा किया होगा।

अन्योक्ति या तथ्य-व्यंजना—

पहले कहा जा चुका है कि मनुष्येतर बाह्य प्रकृति के कुछ रूप-व्यापार भीतरी भावों या तथ्यों की भी व्यंजना करते हैं। पशु-पक्षी अपनी आकृति, चेष्टा, शब्द आदि से जिन भावों की व्यंजना करते हैं वे तो बहुत स्पष्ट होते ही हैं, उन पर कवियों को अपने भावों का आरोप करने की आवश्यकता नहीं होती। तथ्यों का आरोप अवश्य कवि लोग कभी कभी किया करते हैं। परंतु वह कभी कभी कथन को काव्य से निकाल कर 'सूक्ति' अथवा 'सुभाषित' के क्षेत्र में डाल देता है। जैसे हाथी धूल उड़ाता क्यों चलता है? क्योंकि वह उस धूल को ढूँढ़ता है जिससे अहल्या तर गई थी—

> धूलि धरत निज सीस पर, कहु रहीम केहि काज।
> जेहि रज मुनि-पतनी तरी, सो ढूँढ़त गजराज॥
>
> —रहीम

यह केवल सूक्ति है, काव्य नहीं। नीति के कवियों की रचना में ऐसे बहुत से दोहे मिलेंगे।

जड़ जगत् के रूप-व्यापार और परिस्थितियाँ भी अनेक मार्मिक हृदयस्पर्शी तथ्यों की व्यंजना करती हैं। जीवन के तथ्यों के साथ उनका साम्य हम प्रायः देख सकते हैं। इन्हीं को लेकर जीवन-साम्य का बहुत अच्छा मार्मिक उद्घाटन कहीं कहीं हमारे अन्योक्तिकारों ने किया है। जैसे हम देखते हैं कि संपन्न और धनी मानी पुरुष को अनेक प्रकार के आदमी चारों ओर से घेरे रहते हैं, स्तुति का खासा कोलाहल मचा रहता है। परंतु वैभव नष्ट हो जाने पर, विपत्ति और दुर्दिन में सब किनारा-कशी कर जाते हैं, पास नहीं फटकते। इसी प्रकार प्रकृति में हम देखते हैं

कि भरे सरोवर के किनारे अनेक प्रकार के पक्षी कोलाहल करते हैं, परंतु उसके सूख जाने पर उसकी ओर ताकते भी नहीं। इसी को लेकर बाबा दीनदयाल गिरि ने कैसी अच्छी अन्योक्ति कही है—

कोलाहल सुनि खगन के सरवर जनि अनुरागि।
ये सब स्वारथ के सखा, दुरदिन देहैं त्यागि॥
दुरदिन देहैं त्यागि, तोय तेरो जब जैहै।
दूरहिं ते तजि आस, पास कोऊ नहिं ऐहै॥
बरनै दीनदयाल, तोहि मथि करिहैं काहल।
ये चल छल के मूल, भूल मत सुनि कोलाहल॥

(दीनदयाल गिरि)

दीनदयाल जी की अन्य अन्योक्तियाँ भी ऐसी ही मर्म-स्पर्शिनी और हृदय-ग्राहिणी हैं।

यह प्राचीन हिंदी-कविता में प्रकृति के प्रयोग का साधारण दिग्दर्शन मात्र हुआ। आलम्बन, उद्दीपन, रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, अन्योक्ति आदि के और भी बहुत से उदाहरण मिलेंगे। परंतु मेरा उद्देश्य सभी प्राप्य उदाहरणों का एकत्रीकरण नहीं है। मेरा उद्देश्य केवल, नमूने के तौर पर, प्रवृत्ति दिखलाने के लिए और आलोचना का आधार उपस्थित करने के लिए कुछ कविताओं को सामने रखना था। आगामी प्रकरण में हम आधुनिक हिंदी-कविता में प्रकृति के प्रयोग का दिग्दर्शन कराएँगे और यही उद्देश्य सामने रखेंगे। इसके अनंतर पाँचवें प्रकरण में इन दोनों प्रकरणों की सामूहिक रूप से समालोचना करेंगे।

चतुर्थ प्रकरण

आधुनिक हिंदी-कविता में प्रकृति

हिंदी-कविता का आधुनिक काल भारतेंदु हरिश्चन्द्र से आरंभ होता है। हिंदी के इस काल में हमें दो प्रकार की कविताएँ मिलेंगी। इनको हम प्राचीन और नवीन ढंग की कविता कह सकते हैं। नवीन से मेरा अभिप्राय उस प्रकार की कविता से है जो इधर कुछ दिनों से हो रही है और जो छायावाद या रहस्यवाद के नाम से पुकारी जाती है। इस काल की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि काव्यभाषा ब्रजभाषा न रहकर खड़ी बोली हो गई यद्यपि कुछ लोग ब्रजभाषा को ही अपनाए रहे और अब भी उस भाषा में कविता करते हैं। ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली का झगड़ा यद्यपि अब एक प्रकार से शांत हो गया है फिर भी कभी कभी चिनगारियाँ निकल ही पड़ती हैं।

हिंदी के प्राचीन काल में जिस प्रकार संस्कृत का प्रभाव रहा, उसी प्रकार इस काल में अँगरेजी का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। अँगरेजी के राजभाषा होने के कारण और शिक्षा का माध्यम अँगरेजी होने के कारण, इस भाषा का पठन-पाठन बहुत बढ़ गया है। अतएव यह असंभव है कि उसका प्रभाव हिंदी-साहित्य पर न पड़े।

अँगरेजी का प्रभाव

हिंदी-साहित्य में जो स्वदेश-प्रेम की भरमार इस काल में दिखाई देती है वह अँगरेजी ही के कारण। यह स्वदेश-प्रेम पहले बँगला में और फिर बंकिम बाबू आदि की कृतियों द्वारा हिंदी में आया। इसी प्रकार रीतिकाल के शृङ्गार-रसाभास और विरहिणियों की पुकार से जान छूटी। कवियों को अब राजदरबारों की चिंता नहीं रही। उनको भाव-व्यंजना के और भी बहुत से आधार दिखाई पड़े। जनता की

और साथ ही साथ कवियों की रुचि परिमार्जित हो गई। अँगरेजी से अनुवाद भी आरंभ हो गए जैसे श्रीधर पाठक के 'ऊजड़ ग्राम' और 'श्रान्त पथिक'।

परंतु अँगरेजी का सबसे अधिक प्रभाव इस काल की उस कविता में लक्षित होता है जिसे ऊपर नवीन ढंग की कविता कहा गया है। इस प्रकार की कविता में अँगरेजी काव्य की बहुत सी विशेषताएँ मिलेंगी। कविता अधिकतर प्रेमोद्गारपूर्ण प्रगीत मुक्तकों में होती है जिसे अँगरेजी में लीरिक Lyric, कहते हैं। वहाँ यह प्रगीत-प्रथा (Lyricism) बहुत पुरानी है। मुक्तकों का प्रचार तो हिंदी में भी बहुत पहले से रहा परंतु यह प्रगीत मुक्तक अँगरेजी से ही आया है। दूसरी बात जो वहाँ से आई है वह है कविता का अन्तर्वृत्ति-निरूपिणी (Subjective) होना। प्राचीन कवियों और इस काल के प्राचीन धारा के कवियों की दृष्टि बाह्यार्थनिरूपिणी (Objective) रही है। वे लोग अपने सामने की वस्तु पर ही अधिकतर दृष्टि जमाते थे। परंतु नई ढंग की कविता में आंतरिक भावों की व्यंजना ही प्रधान हो गई है। इसी के फलस्वरूप अभिव्यंजन को ही सब कुछ समझने के कारण प्रस्तुत रूप-विधान को छोड़कर अप्रस्तुत रूप-विधान की ओर प्रवृत्ति अधिक दिखाई देती है। सबसे बड़ी बात जो आजकल की कविता में है वह है रहस्योन्मुख होने की प्रवृत्ति अथवा कविता पर आध्यात्मिक रंग चढ़ाने की चेष्टा। यह प्रवृति भी अँगरेजी के अनुकरण पर बँगला का प्रसाद है। योरप में भी और हमारे यहाँ भी आजकल इसी का बोलबाला है। रहस्य की भावना हमारे पुराणों में भी है। प्राचीन ऋषि चिंतन करते करते कभी कभी रहस्योन्मुख हो उठते थे और अपनी बात को किसी अनूठी उक्ति में कह जाते थे, इसका प्रभाव पुराणों पर है। इसके

अनंतर जायसी प्रभृति सूफी प्रेम-कहानी-लेखकों में हमें बहुत स्वाभाविक रहस्यभावना मिलती है। परंतु बाद के रूप में यह विलायत से बँगला द्वारा होकर ही आई है। आजकल प्रायः सभी कविताओं में अज्ञात, असीम, कौन, क्या, छाया, स्वप्न आदि शब्द रखकर उनपर आध्यात्मिक रंग चढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है। परंतु इन शब्दों के लिख देने से ही कविता रहस्यमयी नहीं हो जाती। आजकल जितनी कविताएँ निकलती हैं उनमें से अधिकांश का छाया या रहस्यवाद से कोई सम्बन्ध नहीं होता। श्रीयुत पंत और प्रसाद की कविताएँ सच्चे अर्थ में छायावाद नहीं कहला सकतीं। यदि इन लोगों में कहीं कहीं रहस्यभावना आई भी है तो बहुत स्वाभाविक ढंग से। नई रंगत की कविताओं की एक और विशेषता व्यंजना-प्रणाली है। परंतु यह विदेश से नहीं आई है वरन् शुद्ध भारतीय है और लक्षणा के आधार पर उसका रूप खड़ा किया गया है। कुछ नवीन कुशल कवियों द्वारा उसका स्वतंत्र विकास हो रहा है।

साधारण कविता के समान हम इस काल की प्रकृति-विषयक कविता को भी पुराने और नए ढंग के कवियों की दृष्टि से देख सकते हैं। पुराने ढंग के कवियों ने तो अपने को आलंबन-उद्दीपन और अप्रस्तुत में ही परिमित रखा, परंतु नए ढंग के कवियों ने प्रकृति-विषयक कविता में भी नई भावनाएँ लाने का प्रयत्न किया। नए ढंग के कवियों में आलंबन और उद्दीपन की कमी हो गई; जिसका कारण कविता का अन्तर्वृत्ति-निरूपिणी (Subjective) होना था, और अप्रस्तुत रूप-विधानों का प्राचुर्य हो गया।

अँगरेजी की प्रकृति-कविता का इस काल की प्रकृति-कविता पर प्रभाव

अँगरेजी के प्राचीन कवियों की प्रकृति-विषयक कविता भी हमारी प्राचीन कविता की तरह आलंबन, उद्दीपन और उपमान में बाँटी जा सकती है। अंतर केवल इतना है कि अँगरेजी में प्रकृति पर कविता करना एक स्वतंत्र विषय माना गया है परंतु हिंदी और संस्कृत में इसका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। केवल पट्ऋतु-वर्णनों को हम स्वतंत्र रूप में कह सकते हैं। अँगरेजी में संस्कृत की भाँति आरंभ काल से ही प्रकृति-विषयक कविता चली आ रही है। स्पेन्सर, शेक्सपियर, मिल्टन आदि की पैस्टोरल (Pastoral) कविता प्रकृति का आलंबन लेकर ही हुई है। मार्वेल, मिल्टन, ग्रे, कालिन्स, बर्न्स, गोल्डस्मिथ आदि अनेक कवियों ने प्रकृति का आलंबन के रूप में वर्णन किया है। ग्रे' ने अपने मरसिया (Elegy Written in a Country Churchyard) के आरंभ में और गोल्डस्मिथ ने अपने ऊजड़ ग्राम (Deserted Village) में जो वर्णन संध्या और पतझड़ Autumn का किया है वह शुद्ध आलंबन के रूप में है। परंतु आगे चलकर अप्रस्तुत रूप-विधान (Imagery) की प्रथा बढ़ती गई। कविता अधिकाधिक अन्तर्वृत्ति निरूपक Subjective) होती गई। प्रकृति के प्रति कवियों का प्रेम बढ़ अवश्य गया परंतु वह व्यक्तिगत अनुभूति की व्यंजना का साधन हो गई। फिर भी अनेक प्रतिभा-संपन्न कवियों ने प्रकृति का आलंबन के रूप में चित्रण किया है जैसे शेली Shelley के अलास्टर Alastor, में और वर्डस्वर्थ (Wordsworth और मेरिडिथ (Meredith की अनेक कविताओं में। इन कवियों की रचनाओं में विशेषतः शेली के अलास्टर में प्रकृति के बड़े ही सुंदर और संश्लिष्ट चित्र हैं जो प्राचीन संस्कृत के वाल्मीकि, कालिदास आदि के चित्रणों से टक्कर लेते हैं। यह सब होते हुए भी इन परवर्ती कवियों में प्रधानता ऐसी ही कविताओं की रही जिनमें प्रकृति

द्वारा अप्रस्तुत रूप-विधान (Imagery) अथवा जगत्-जीवन की व्यक्तिगत अनुभूतियों की व्यंजना की गई है। शेली की 'पछुवा हवा के प्रति' (Ode to the West Wind) और 'लवा के प्रति' (To a Skylark), कीट्स की 'बुलबुल के प्रति' (Ode to the Nightingale) और वर्ड्स्वर्थ की 'पथिक को उपालंभ' (Admonition to a Traveller) आदि कविताएँ ऐसी ही हैं।

इन्हीं परवर्ती कविता का प्रभाव हिंदी पर पड़ा है। नए ढंग के कवियों की प्रकृति-विषयक कविता में भी व्यक्तिगत अनुभूतियों की व्यंजना और अप्रस्तुत रूप-विधान की प्रधानता है। उपर्युक्त कवियों में से वर्ड्स्वर्थ और कोलरिज का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक है, यद्यपि श्रीयुत पंत ऐसे कवियों पर शेली का प्रभाव अधिक जान पड़ता है। किसी का प्रभाव पड़ा है से मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि उसकी नकल की गई है। मेरा मतलब केवल इतना ही है कि उस प्रकार की कविता अधिक पाई जाती है और परिस्थितियों को देखते हुए ऐसा जान पड़ता है कि यह इंगित वहाँ से मिला है। वर्ड्स्वर्थ और कोलरिज दोनों की प्रवृत्ति प्रकृति में परोक्ष सत्ता का संकेत पाने की ओर थी। यह प्रवृत्ति हिंदी में भी है। दोनों यह जानने की चेष्टा करते थे कि हमारे परिस्थिति-रूपी पर्दे के पीछे कौन सी परोक्ष सत्ता काम कर रही है। प्रकृति के द्वारा प्रकृति के कर्ता को देखने की ओर उनकी प्रवृत्ति थी। वर्ड्स्वर्थ की आरंभिक कविता में हमें प्रकृति के बड़े सूक्ष्म और संश्लिष्ट चित्र मिलते हैं। परंतु उनके प्रौढ़ काल की कविता में यह बात नहीं है। उसमें कवि ने प्रकृति में एक अनंत सत्ता का अनुभव किया है और एक आभ्यन्तर संसार की खोज की है। कवि ने स्वयं अपने दोनों रूपों को—प्रकृति के सीधे सादे सच्चे उपासक के रूप को और

आध्यात्मिक सिद्धान्तवादी रूप को—स्वीकार किया है। इसका ता इन पंक्तियों से चलता है—

"Nature then
(The coarser pleasure of my boyish days
And their glad animal movements all gone by)
To me was all in all.—I cannot paint
What then I was. The sounding cataract
Haunted me like a passion; the tall rock,
The mountain, and the deep and gloomy wood,
Their colours and their forms, were then to me
An appetite: a feeling and a love,
That hath no need of a remoter charm,
By thought supplied; or any interest
Unborrowed from the eye.— That time is past."

प्रकृति के सीधे-सादे रूप के उपासक के चले जाने पर आध्यात्मिक सिद्धांतवादी का जन्म हुआ। इस काल के विषय में कवि स्वयं कहता है—

"And I have felt
A presence that disturbs me with the joy
Of elevated thoughts, a sense sublime
Of something far more deepiy interfused
Whose dwelling is the light of setting suns,
And the round ocean and the living air,
And the blue sky, and in the mind of men,
A motion and a spirit, that impels
All thinking things, all objects of thought,
All rolls through all things.

इस प्रकार की परोक्ष सत्ता का बड़ा सुंदर संकेत कवि की बाल्यावस्था की स्मृति द्वारा अमरत्व का 'संकेत' (Ode on Intimaitations of Immortality from Recollections of Early Childhood) नामक कविता में मिलता है।

कोलरिज (Coleridge) में भी कुछ कुछ इसी प्रकार की भावना पाई जाती है। दोनों ही कवि प्रकृति को ब्रह्म की प्रत्यक्ष विभूति मानते थे और उसी में उसके दर्शन करते थे। कोलरिज भी प्रकृति की अंतरात्मा को देखते थे। वे उसमें ईश्वरीय शक्ति का अनुभव करते थे। यह बात उनकी कुछ कविताओं और विशेषतया उनके फुटकर नोट्स से स्पष्ट हो जाती है जो कि कुछ तो लिटरेरी रिमेन्स (Literary Remains) नामक पुस्तक में है और कुछ अनीमा पोयटिक (Anima Poetic) नामक पुस्तक में उनके पौत्र हार्टली कोलरिज द्वारा प्रकाशित किए गए हैं। इस दूसरी पुस्तक में बड़े सुंदर शब्द-चित्र और आश्चर्योत्पादक विचार भरे पड़े हैं जिनके द्वारा कवि की कला और उसकी प्रकृति के प्रति भावना समझने में बड़ी सहायता मिलती है। उनकी प्रवृत्ति का परिचय इन पंक्तियों से हो जायगा—

> "But thou, my babe ! shalt wander like a breeze
> By lake and sandy shores beneath the crags,
> Of ancient mountains, and beneath the clouds
> Which image in their bulk both lakes and shores,
> And mountain crags; so shalt thou see and hear
> The lovely shapes and sounds intelligible
> Of that eternal language, which thy God
> Utters........................."

परंतु कवि प्रकृति की सुंदरता की ओर से उदासीन नहीं है। यह बात उसके 'अनीमा पोयटिक' से ज्ञात होती है जिसमें रात्रि के

अनेक शब्द-चित्र भरे हैं और जो उनके जाग्रत् स्वप्नों (Nocturnal Reveries) से पूर्ण हैं। सौंदर्य-निरीक्षण और प्रकृति के प्रति उनकी भावना दोनों का आभास इसी एक उदाहरण से मिल जायगा—

"Midnight of March 2nd 1805. What a sky ! the not yet orbed moon, the spotted oval, blue at one edge from the deep utter blue of the sky—a MASS of pearl-white cloud below, distant and travelling to the horizon, but all the upper part of the ascent and all the height such profound blue, deep as a deep river, and deep in colour, and then two depths so entirely one, as to give the meaning and explanation of the two different signification of the epithet. Here, so far from divided, they were scarcely distinct, scattered over with them, pearl-white cloudlets—hands and fingers – the largest not longer than a floating veil ! Unconsciously I stretched forth my arms to embrace the sky, and in a trance I had worshipped God in the moon—the spirit not the form. I felt in how innocent a feeling Sabeism might have begun,"

आधुनिक काल की नवीन ढंग की कविताओं में प्रकृति के प्रति ऐसी ही रहस्य और परोक्ष-सत्ता की भावना पाई जाती है।

इस प्रकार आधुनिक काल के कवियों ने जितने प्रकार से प्रकृति का उपयोग किया है उसे हम निम्नलिखित भागों में बाँट सकते हैं—(१) आलंबन, (२) उद्दीपन, (३) अप्रस्तुत, (४) रहस्य-संकेत (Mystic Suggestion), (५) दार्शनिक-तथ्य (Philosophising) और (६) प्रतीक (Symbols)।

आधुनिक काल का प्रकृति-वर्णन का यह भाग प्राचीन काल से अधिक भरा-पूरा और समुन्नत है। प्राचीन काल में आलंबन के रूप में प्रकृति-वर्णन का जो दुर्भिक्ष सा था वह इस काल में आकर बहुत कुछ दूर हो गया। संभव है अँगरेजी के प्राकृतिक वर्णनों को पढ़कर हमारे कवियों की रुचि इस ओर हुई हो। पं० श्रीधर पाठक ने तो 'ऊजड़ ग्राम' के नाम से गोल्डस्मिथ के 'डिजर्टेड विलेज' का जिसमें प्रकृति का बड़ा सुंदर वर्णन है, अनुवाद भी कर डाला। बहुत से सुकवियों ने प्रकृति के सहज सुन्दर रूप के प्रति अपने अनुराग की व्यंजना की है। ऐसा होना पुराने रीतिबद्ध काव्य के घेरे से बाहर निकलकर, कवियों के सामाजिक हृदय-विस्तार का परिचायक है। पं० श्रीधरपाठक, पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', ठाकुर जगमोहनसिंह, पं० रामचन्द्र शुक्ल आदि ने प्रकृति के अनेक संश्लिष्ट चित्र दिए हैं। अँगरेजी के अनुवाद तो होते ही रहे, साथ ही साथ संस्कृत के पुराने कवियों की कृतियों की ओर भी ध्यान गया। संस्कृत काव्य-ग्रंथों के भी अनुवाद हुए। कुमारसंभव, मेघदूत, शकुन्तला, उत्तर रामचरित आदि के सुंदर अनुवाद प्रकाशित हुए। इनके कारण भी प्रकृति की ओर कवियों की दृष्टि गई। राजा लक्ष्मणसिंह से लेकर आज तक मेघदूत के जितने अनुवाद प्रकाशित हुए हैं उतने किसी के न हुए होंगे।

आलम्बन

उपर्युक्त कवियों में ठाकुर जगमोहनसिंह का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अपनी कविता को तो वे नए विषयों की ओर नहीं ले गए परंतु उनका 'श्यामास्वप्न' उपन्यास एक गद्यकाव्य सा है। ठाकुर साहब संस्कृत और अँगरेजी के अच्छे ज्ञाता थे। प्राचीन संस्कृत-साहित्य के अभ्यास और विंध्याटवी के रमणीय

प्रदेश के निवासी होने के कारण प्रकृति के रूप-माधुर्य की उन्हें जैसी परख थी वैसी बहुत कम मिलती है। "प्राचीन संस्कृत काव्यों के प्राकृतिक वर्णनों का संस्कार मन में लिए हुए, अपनी प्रेमचर्या की मधुर स्मृति से समन्वित विंध्यप्रदेश के रमणीय स्थलों को जिस सच्चे अनुराग की दृष्टि से उन्होंने देखा है, वह ध्यान देने योग्य है। उसके द्वारा उन्होंने हिंदी-काव्य में एक नूतन विधान का आभास दिया था।" अपने हृदय पर चित्रित भारतीय ग्राम्य जीवन की मधुर छटा का जो संस्कार आपके 'श्यामस्वप्न' में है वह अपूर्व रीति से सरस है। प्राचीन संस्कृत-साहित्य के रुचि-संस्कार के साथ भारतभूमि की प्यारी रूपरेखा को मन में बसानेवाले ये पहले हिंदी लेखक थे। उदाहरणार्थ 'श्यामास्वप्न' का एक दृश्यखण्ड देखिए—

"मैं कहाँ तक इस सुंदर देश का वर्णन करूँ? × × × जहाँ की निर्झरिणी जिनके नीर से भिरे मदकलकूजित विहंगों से शोभित हैं, जिनके मूल से स्वच्छ और शीतल जलधारा बहती है, और जिनके किनारे के श्याम जम्बू के निकुंज फलभार से नमित जनाते हैं—शब्दायमान होकर झरती है। × × × जहाँ के शल्लकी वृक्षों की छाल में हाथी अपना बदन रगड़ रगड़ खुजली मिटाते हैं और उनमें से निकला क्षीर सब वन के समीर को सुरभित करता है। मंजु बंजुल की लता और नील निचुल के निकुंज जिनके पत्ते ऐसे सघन जो सूर्य की किरणों को भी नहीं निकलने देते, इस नदी के तट पर शोभित हैं।

इस नदी के तीर अनेक जंगली गाँव बसे हैं। मेरा ग्राम इन सभों से उत्कृष्ट और शिष्ट जनों से पूरित है। × × × यहाँ आम के आराम पथिक और पवित्र यात्रियों को विश्राम और आराम देते हैं। × × × पुराने टूटे फूटे शिवाले इस ग्राम की प्राचीनता

के साक्षी हैं। ग्राम के सीमान्त के झाड़, जहाँ झुण्ड के झुण्ड कौवे और बगुले बसेरा लेते हैं गँवई की शोभा बताते हैं। पौ फटते और गोधूलि के समय गैयों के खुरों से उड़ी धूल ऐसी गलियों में छा जाती है मानो कुहरा गिरता हो।"

खेद है कि इस प्रणाली की ओर किसी ने ध्यान नहीं दिया।

पं० श्रीधर पाठक हिंदी-प्रेमियों में प्रकृति-उपासक के नाम से प्रसिद्ध हैं। अपने समय के कवियों में प्रकृति का वर्णन पाठक जी ने सबसे अधिक किया है। 'ऊजड़ ग्राम' और 'श्रान्त पथिक' के अतिरिक्त उन्होंने स्वयं काश्मीर-सुषमा तथा कुछ अन्य फुटकर कविताओं में प्रकृति-वर्णन किया है। परंतु उनकी दृष्टि प्रकृति के सुखदायक, आनंदप्रद, सुन्दर, भव्य और विशाल रूपों तक ही परिमित थी। प्रकृति के उग्र और कराल अथवा सीधे-सादे, नित्य दिखाई पड़नेवाले, देश के परंपरागत जीवन से संबंध रखनेवाले दृश्यों के माधुर्य की ओर उनका आकर्षण नहीं था। उनके द्वारा किए गए वर्णन बहुत से तो पुराने ढंग के हैं जैसे कि व्रजभाषा के अन्य कवियों में मिला करते हैं। जैसे उनका यह सवैया लीजिए—

बारि-फुहार-भरे बदरा, सोई सोहत कुंजर से मतवारे।
बीजुरी-जोति धुजा फहरै, घन-गर्जन-सब्द सोई हैं नगारे।
रोर की घोर को ओर न छोर, नरेसन की सी छटा छबि धारे।
कामिनि के मन को प्रिय पावस, आयो प्रिये! नव मोहिनी डारे।

अथवा काश्मीर का यह वर्णन लीजिए जिसमें उत्प्रेक्षाओं का भाण्डार है—

कै यह जादू-भरी विश्व-बाजीगर-थैली।
खेलत में खुलि परी शैल के सिर पै फैली॥

पुरुष प्रकृति को किधौं जबै जोबन-रस आयो।
प्रेम-केलि-रस रेलि करन रँगमहल सजायो॥
खिली प्रकृति-पटरानी के महलन फुलवारी।
खुली धरी कै भरी तासु सिंगार-पिटारी॥
प्रकृति इहाँ एकांत बैठि निज रूप सँवारति।
पल पल पलटति भेस छनिक छवि छिन छिन धारति॥
विमल अम्बु सर मुकुरन महँ मुखबिंब निहारति।
अपनी छबि पै मोहि आप ही तन मन वारति॥

(काश्मीर-सुषमा)

परंतु ये उत्प्रेक्षाएँ भी उल्लाससूचक हैं। इससे जान पड़ता है कि कवि के हृदय का सामंजस्य प्रस्तुत दृश्य से है। पुराने कवियों की भाँति यह कोरी दूर की उड़ान नहीं है।

पं० रामचन्द्र शुक्ल केवल उत्कृष्ट समालोचक ही नहीं, एक सिद्धहस्त कवि भी थे। यद्यपि समालोचना की ओर ही उनकी अधिक प्रवृत्ति थी, परंतु उनकी कविताएँ उन्हें एक उच्चकोटि का कवि प्रमाणित करती हैं। शुक्लजी प्रकृति के एकान्त भक्त हैं। प्रकृति की नैसर्गिक सुंदरता के प्रति उनका बड़ा आकर्षण है। रईसों के बगीचों की अपेक्षा उन्हें विंध्याचल के जंगल अधिक प्रिय हैं। प्रकृति के रम्य और सुंदर तथा भयानक और ऊबड़-खाबड़ दोनों रूपों की ओर वे आकर्षित होते हैं। देश के नित्यप्रति दिखाई देनेवाले ग्रामदृश्यों में भी उनकी वृत्ति लीन होती है। उनका निरीक्षण बड़ा सूक्ष्म है। उदाहरणार्थ यह वसंत वर्णन देखिए—

× × × × × बन बाग तड़ाग लसै चहुँ ओर।
लसे नव पल्लव सों लहरैं लहि कै तरु मंद समीर-झकोर॥

कहूँ नव किंशुक जाल सों लाल लखात घने बन खंड के छोर।
परैं जहँ खेत सुनात तहाँ श्रमलीन किसानन को कल रोर॥
लिये खरिहानन में सुथरे पथ पार पयार के ढूह लखात।
मढ़े नव मंजुल मौरन सों सहकार न अंगन माहि समात॥
भरी छबि सों छलकाय रहे, मृदु सौरभ लै बगरावत बात।
चरैं बहु ढोर कछारन में जहँ गावत ग्वाल नचावत गात॥
लदे कलियान औ फूलन सों कचनार रहे कहुँ डार नवाय।
भरो जहँ नीर धरा रस भीजि कै दीनी है दूब की गोट चढ़ाय॥
रह्यो कलगान बिहंगन को अति मोद भरो चहुँ ओर सों आय।
कढ़ै लघु जंतु अनेक, भगैं पुनि पास की झाड़िन को झहराय॥
डोलत हैं बहु भृंग पतंग सरीसृप मंगल मोद मनाय।
भागत झाड़िन सों कढ़ि तीतर पास कहूँ कछु आहट पाय॥
बागन के फल पै कहुँ कीर हैं भागत चोंच चलाय चलाय।
धावत हैं धरिबे हित कीटन चाष घनी चित चाह चढ़ाय॥
कूकि उठै कबहूँ कलकंठ सों कोकिल कानन में रस नाय।
गीध गिरैं छिति पै कछु देखत, चील रहीं नभ में मँडराय॥
श्यामल रेख धरे तन पै इत सों उत दौरि कै जाति गिलाय।
निर्मल ताल के तीर कहूँ बक बैठे हैं मीन पै ध्यान लगाय॥
चित्रित मंदिर पै चढ़ि मोर रह्यो निज चित्रित पंख दिखाय।
ब्याह के बाजन बाजन की धुनि दूर के गाँव में देति सुनाय॥

(बुद्धचरित, पृष्ठ १६-१७)

इसी प्रकार 'शिशिर पथिक', 'वसंत,' 'वसंत-पथिक', आदि कविताओं में प्राकृतिक दृश्यों के सुंदर चित्र मिलते हैं।

इसी प्रकार राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', 'हरिऔध'जी श्रीलोचन-प्रसाद पांडेय, पं० रूपनारायण पांडेय आदि ने प्रकृति के प्रति

इसी प्रकार 'पल्लव' की अनेक कविताओं में तथा 'गुंजन' की 'एक तारा' और 'नौका-विहार' शीर्षक कविताओं में प्रकृति के सुंदर चित्र हैं।

आधुनिक काल में प्रकृति का उद्दीपन-रूप में ग्रहण नहीं सा दिखाई देता। संभवतः इस बला को पुराने कवि अपने साथ ही लेते गए। शृंगार रस के ह्रास के कारण प्रकृति और ऋतुओं द्वारा नायक और नायिका को हँसाने और रुलाने की प्रथा भी तिरोहित हो गई। केवल एक आध स्थान पर पुरानी धारा या स्कूल के कवियों द्वारा ऐसा वर्णन हुआ है। श्रीयुत 'रत्नाकर', 'पूर्ण', पं० श्रीधर पाठक, श्रीयुत 'सनेही', 'हरिऔध' जी की व्रजभाषा-कविता में ही कहीं-कहीं इस प्रकार के वर्णन मिल सकते हैं। नए ढंग की कविताओं में तो यह बात प्रायः बिलकुल नहीं पाई जाती। यदि एक आध स्थान पर पाई भी जाती है तो बहुत संयत और सुंदर ढंग से। नायिका के 'कच कुच' और नाम गिनाने की बात उसमें नहीं रहती। उदाहरणार्थ पंत जी की ये पंक्तियाँ देखिए—

उद्दीपन

धधकती है जलदों से ज्वाल,
बन गया नीलम व्योम प्रवाल;
आज सोने का संध्या काल
जल रहा जतुगृह सा विकराल;

चिनिगियों-से तारों को डाल
आग का-सा अँगार शशि लाल
लहकता है,—फैला मणि जाल
जगत को डसता है तम-व्याल !

पूर्व-सुधि सहसा जब सुकुमारि !
सरल-शुक सी सुखकर सुर में
तुम्हारी भोली बातें
कभी दुहराती हैं उर में !
(पल्लव—आँसू, पृष्ठ १९ २०)

यद्यपि उद्दीपन के रूप में प्रकृति-वर्णन का आधुनिक कविता से तिरोभाव हो गया है परंतु अप्रस्तुत रूप-विधानों की प्रधानता बढ़ गई है। प्राचीन धारा के कवियों में तो यह बात है ही—क्योंकि वे समयानुसार ही काम करते रहे—परंतु नवीन ढंग की कविता में यह प्रवृत्ति बहुत अधिक है। लेकिन इस नई ढंग की कविता में रूप-योजना भी नए ढंग की होती है। पुराने रीतिकाल के रूपक आदि प्राचीन धारा के कवियों में ही मिलेंगे। नवीन ढंग की कविता में अप्रस्तुत रूप-विधान भी भावव्यंजक होता है, कवि की जटिल कल्पना नहीं।

अप्रस्तुत

भारतेंदु जी के समय में भाषा एक नए मार्ग पर आ खड़ी हुई। कविता ने भी नए नए रास्ते निकाले परंतु दृश्य-वर्णन में अधिक संस्कार न हुआ। स्वयं भारतेंदु जी ने भी इस ओर ध्यान नहीं दिया। यद्यपि ठाकुर जगमोहन सिंह ऐसे सरस हृदय और प्रकृति-उपासक उनकी मित्र-मंडली में थे, परंतु बाह्य प्रकृति में उनकी प्रवृत्ति लीन नहीं होती थी। वे नर-प्रकृति के ही कवि थे। उन्होंने गंगा और यमुना का वर्णन किया है और वे अच्छे भी कहे जाते हैं परंतु मेरी समझ में तो वे उपमा-उत्प्रेक्षा-प्रधान और परंपरा-प्राप्त ही हैं। वस्तुओं और व्यापारों के पृथक् पृथक कथन के साथ उपमा आदि का प्राचुर्य है। उदाहरणार्थ यमुना-वर्णन की ये पंक्तियाँ लीजिए—

तरनि तनूजा-तट तमाल तरुवर बहु छाए।
झुके कूल सों जल परसन हित मनहुँ सुहाए॥
किधौं मुकुर में लखत उझकि सब निज निज सोभा।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा॥
मनु आतप वारन तीर को सिमिटि सबै छाए रहत।
कै हरि-सेवा-हित नै रहे निरखि नैन मन सुख लहत॥
कहूँ तीर पर अमल कमल सोभित बहु भाँतिन।
कहुँ सैवालन-मध्य कुमुदिनी लगि रही पाँतिन॥
मनु दृग धारि अनेक जमुन निरखति ब्रज-सोभा।
कै उमगे प्रिय-प्रिया-प्रेम के अगनित गोभा॥
कै करिकै कर बहु पीय को टेरत निज ढिग सोहई।
कै पूजन को उपचार लै चलति मिलन मन मोहई॥
कै प्रिय पद उपमान जानि यहि निज उर धारत।
कै मुख करि बहु भृंगनि मिस अस्तुति उच्चारत॥
कै ब्रज-तिय-गन-बदन-कमल की झलकति झाँईं।
कै ब्रज हरि-पद परस हेतु कमला बहु आईं॥
कै सात्विक अरु अनुराग दोउ ब्रज-मंडल बगरे फिरत।
कै जान लच्छमी भौन यहि करि सतधा निज जल धरत॥

(चंद्रावली नाटिका)

इसमें 'सैवालन-मध्य कुमुदिनी' में दो वस्तुओं की संश्लिष्ट योजना थी। परंतु आगे चलकर संदेह और उत्प्रेक्षा के चक्कर में पड़कर दोनों अलग अलग हो गईं; कमल अलग हो गया और कुमुद अलग। संबंध-योजना नष्ट हो गई और अलंकारों का बोझ ऊपर से।

पुराने ढंग की रूपकों वाली कविता भी होती रही। 'श्लेष', रूपसाम्य आदि द्वारा प्राकृतिक विषयों पर किसी अन्य वस्तु का

अथवा अन्य वस्तु पर प्राकृतिक व्यापारों का आरोप पुराने ढाँचे के कवि लोग करते रहे। 'रत्नाकर' जी ने अपने 'उद्धवशतक' में सन्निविष्ट षट्ऋतु-वर्णन में सब ऋतुओं का आरोप गोपियों में ही किया है। भारतेंदु जी ने 'पावस का मसान-रूप' देखा है। श्रीयुत गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' ने संध्या में वधिक का आभास पाया है। यथा—

चपला की चमक चहूँघा सो लगाई चिता,
चिनगी चिलक पटबीजना चलायो है।
हेती बगमाल, स्याम बादर सुभूमि कारी,
बीरबधू लहू-बूँद भुव लपटायो है॥
हरीचन्द नीर धार आँसू सी परत जहाँ,
दादुर को सोर रोर दुखिन मचायो है॥
दाहन वियोग-दुखियान को मरेहू यह,
देखो पापी पावस मसान बनि आयो है॥
(भारतेंदु)

बिकसित बिपिन बसंतिकावली कौ रंग,
लखियत गोपिन के अंग पियराने में।
बौरे वृंद लसत रसाल बर बारिनि के,
पिक की पुकार है चवाव उमगाने में॥
होउ पतझार-झार तरुनि-समूहन कौ,
बैहरि बतास लै उसास अधिकाने में।
काम बिधि बाम की कला में मान मेष कहा,
ऊधौ नित बसत बसंत बरसाने में॥
(रत्नाकर)

वध दिगराज का हुआ है, पक्षी रो रहे हैं,
पश्चिम में रुधिर प्रवाह अभी जारी है।

दिशा बंधुओं ने काली साड़ी पहनी है,
नभ छाती चलती है, निशा रोती सी पधारी है ।।
तड़प तड़प के वियोगी प्राण खो रहे हैं,
कैसी चोट चौकस कलेजे पर मारी है ।।
तमघट नहीं जमघट यमराज का है,
नवचन्द्र नहीं, क्रूर काल की कटारी है ।
(सनेही)

परंतु ये परंपरा का अनुकरण मात्र हैं और ऐसे उदाहरण अधिक नहीं मिलेंगे। नए ढंग की कविता में अप्रस्तुत रूप-विधान भावव्यंजक होता है, जटिल कल्पना कम, यह पहले कहा जा चुका है। एक और विशेषता नए ढंग की कविताओं की है। वह है नए नए उपमानों की सृष्टि। यह कवियों के सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण पर निर्भर रहता है। प्राचीन कवि उपमान प्रस्तुत करने में रूप-रंग की समानता को ही दृष्टि में रखते थे। प्रभाव-साम्य की ओर उनकी दृष्टि बिलकुल ही न थी। वर्तमान नवीन ढंग की कविता में यह बात दूर हो गई है। शब्द-साम्य थोड़ा या न रहने पर भी केवल प्रभाव-साम्य अथवा साधारण सा हल्का संकेत लेकर भी निःशंक अप्रस्तुत-योजना कर दी जाती है। जैसे—

इन्द्र धनु सा आशा का सेतु, अनिल में अटका कभी अछोर।
—पंत (पल्लव—आँसू, पृष्ठ १७)

इसमें आशा और इन्द्रधनुप के साम्य का आधार आशा का क्षणिक और धनुरंगों के समान भाँति भाँति की सुखद कल्पनाएँ उत्पन्न करनेवाली होना एवं उसकी निराधारता है। इसी प्रकार—

खिसकते हैं समुद्र से मन,
उमड़ते हैं नभ से लोचन।
—पंत (पल्लव—आँसू)

यहाँ पर मन और समुद्र का साम्य-आधार सिसकने का शब्द नहीं, सिसकने में वक्षस्थल का नीचे ऊपर होना है। इसी प्रकार नभ और आँखों में साम्य का आधार दोनों की शून्यता है। एक दूसरे प्रतिनिधि कवि स्वर्गीय 'प्रसाद' से उदाहरण लीजिए—

उनका सुख नाच रहा था,
दुख द्रुम-दल के हिलने से।

—प्रसाद (आँसू)

इसमें विरह-व्यथा के क्षोभ से द्रुमदल के हिलने की समता सूचित है। इसी प्रकार—

जल उठा स्नेह दीपक-सा,
नवनीत हृदय था मेरा।
अब शेष धूम-रेखा से,
चित्रित कर रहा अँधेरा।

—प्रसाद (आँसू)

इसमें धूम रेखा से बातों की अस्पष्ट स्मृति की और अँधेरे से हृदय की शून्यता की उपमा बेधड़क दे दी गई है। इस प्रकार नए ढंग के अप्रस्तुत-विधान में व्यंजकता पर ही मुख्य दृष्टि रखी जाती है। उपमान और उपमेय के बीच व्यंग्य-व्यंजक का संबंध ही यथेष्ट माना जाता है, रूपसाम्य नहीं।

पुराने ढंग की कविता के उदाहरण ऊपर दिए जा चुके हैं वैसे उदाहरण अधिक नहीं हैं, परंतु नए ढंग की कविता में तो ऐसे उदाहरण पद पद पर भरे हैं। अभिव्यंजनावाद के अभाव से कहीं कहीं तो इनमें भद्दापन आ गया है, परंतु अधिकांश की योजना सुंदर होती है। आजकल के प्रतिनिधि तीन कवियों—स्वर्गीय श्रीयुत 'प्रसाद', श्रीयुत 'पंत' और श्रीमती महादेवी वर्मा—से मैं

अवश्य दूरारूढ़ है। उदाहरणार्थ उनकी 'हे सागर-संगम अरुण नील !' नामक कविता लीजिए। कवि कहता है कि नदी का समुद्र में मिलना मानो ससीम का असीम में मिलना है। नदी ने असीम सागर से मिलन का स्वप्न देखा था। इसी आभास मात्र को लिए हुए मानो वह असीम की ओर बढ़ती चली जाती है—

आकुल अकूल बनने आती,
अब तक तो है वह आती,
देवलोक की अमृत-कथा की माया—
छोड़ हरित कानन की आलस छाया—
विश्राम माँगती अपना।
जिसका देखा था सपना—
निस्सीम व्योमतल नील अंक में
अरुण ज्योति की झील बनेगी कब सलील ?
हे सागर-संगम अरुण नील ! (लहर)

इसी प्रकार 'लहर' की कुछ अन्य कविताएँ भी रहस्योन्मुख हैं।

श्रीमती वर्मा की प्रायः प्रत्येक कविता में यह बात किसी न किसी रूप में पाई जाती है। कवयित्री की आत्मा मानो उस प्रिय से बिछुड़ कर इस संसार में आ पड़ी है। प्रत्येक कविता में मानो वह आत्मा उसी बिछुड़े प्रिय को दुःखपूर्वक खोजती है। उनमें स्वाभाविक रहस्यभावना भी मिलती है और 'वादियों' के काम की भी। हम लोग प्रतिदिन देखते हैं कि नीहार-बिन्दु गिरते हैं, तारक बीच आकाश-पथ पर जलते हैं और प्रातःकाल होते ही बुझ जाते हैं। कवयित्री का कहना है कि सब कुछ प्रिय के आने के मार्ग का प्रबन्ध है, परंतु वह आकर चला भी जाता है और मैं उसे पहचान नहीं पाती हूँ—

पथ देख बिता दी रैन
मैं प्रिय पहचानी नहीं !
तम ने धोया नभ पन्थ
सुवासित हिम जल से ;
सूने आँगन में दीप
जला दिए झिलमिल से;
आ प्रात बुझा गया कौन
अपरिचित, जानी नहीं।
मैं प्रिय पहचानी नहीं !
धर कनक-थाल में मेघ
सुनहला पाटल-सा।
कर बालारुण का कलश
विहग-रव मंगल सा,
आया प्रिय-पथ से प्रात
सुनाई कहानी नहीं !
मैं प्रिय पहचानी नहीं। (नीरजा)

इससे मेरा अभिप्राय उस प्रकार की कविता से है जिसमें प्रकृति के भिन्न भिन्न रूप-व्यापारों द्वारा कवि को दार्शनिक भावों का प्रत्यक्षीकरण होता है। कवि प्रकृति में मनुष्य-जीवन के साथ साम्य या वैषम्य ढूँढ़ता है। वह उसमें जगत् और जीवन की नित्यता, अनित्यता, नश्वरता, अमरता आदि भावों का संकेत पाता है। दार्शनिकता भारत की सर्वोत्कृष्ट निधि रही है। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि यह प्रवृत्ति अँगरेजी से आई है। परंतु अँगरेजी में इस प्रकार की कविता प्रायः पाई जाती है और संभव है कि इस प्रवृत्ति के जीर्णोद्धार का इंगित अँगरेजी से ही

दार्शनिक तथ्य

मिला हो। अन्योक्तियों का ही एक परिवर्द्धित रूप इसे कहा जा सकता है। अंतर केवल यही है कि अन्योक्तियों में सामाजिक जीवन के तथ्य अथवा नीति की बात का स्पष्ट कथन नहीं होता, वह एक प्रकार से व्यंग्य होती है, परंतु इसमें कवि वर्णन तो प्राकृतिक रूप-व्यापार का करता है परंतु अंत में उनसे सार-रूप कुछ दार्शनिक बातें ग्रहण करता है।

अँगरेजी के बहुत से कवियों में यह प्रवृत्ति पाई जाती है। उदाहरणार्थ टेनीसन का स्रोत कहता है—

For men may come and men may go
But I go on for ever (The Brooks)

इसी प्रकार मैथ्यू आर्नल्ड की प्रकृति कहती है—

Race after race, man after man.
Have thought that my secret was theirs
Have dreamed that I live but for them.
That they were my glory and joy.
They are dust, they are changed they are gone
I remain........... (The youth of Nature)

इसी प्रकार वर्डस्वर्थ की 'एक शिक्षा' (A Lesson) नामक कविता में भी ऐसा ही तथ्य-ग्रहण किया गया है। "इसमें एक फूल का वर्णन है जो बहुत ठंड, मेह या ओले पड़ने पर संकुचित होकर अपने दल समेट लेता है। कवि ने एक बार इस फूल को इस युक्ति से अपनी रक्षा करते देखा था। फिर कुछ दिनों पीछे जब देखा तब वह जीर्ण हो गया था, उसमें दल समेटने की शक्ति नहीं रह गई थी। वह मेह और ओले सह रहा था।" इस पर कवि कहता है—

I stopped and said with inly uttered voice
It doth not love the shower, nor seek the cold.
This neither is its courage, nor its choice,
But its necessity in being old. Wordsworth

ऐसी अभिव्यंजनाएँ भी सच्ची कविता के अन्तर्गत हैं।

आधुनिक कवियों में श्रीयुत पंत में यह प्रवृत्ति सबसे अधिक पाई जाती है। नौका-विहार नामक कविता में कवि चाँदनी रात में सरिता के वक्षस्थल पर नौका-विहार कर रहा था। उसका एक अपूर्व चित्र देकर कवि अंतिम पंक्तियों में कहता है—

ज्यों ज्यों लगती है नाव पार
उर में आलोकित शत विचार
इस धारा सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम,
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम।
शाश्वत नभ का नीला विकास, शाश्वत कवि का यह रजत-हास,
शाश्वत लघु लहरों का विलास।
हे जग-जीवन के कर्णधार! चिर जन्म-मरण के आर पार।
शाश्वत जीवन नौका-विहार। (गुञ्जन)

'पल्लव' की 'निर्झर गान' कविता में भी ऐसा ही दार्शनिक कथन है—

प्रणति में है निर्वाण,
पतन में अभ्युत्थान;
जलद—ज्योत्स्ना के गात!
अटल हो यदि चरणों में ध्यान;
शिलोच्चय के गौरव संघात!
विश्व है कर्म-प्रधान। (पल्लव, पृष्ठ ६६)

अन्योक्तियाँ इस काल में कम हो गईं। यह नहीं कि अन्योक्तियाँ लिखी ही नहीं गईं। किसी सरस हृदय, भावुक कवि ने अन्योक्ति भी लिखी है, परंतु कोई ही कोई ऐसे हैं। पं० रूपनारायण पांडेय की 'दलित कुसुम' नामक अन्योक्ति बड़ी हृदय-ग्राहिणी है। श्रीयुत सुमित्रानंदन पंत के 'गुंजन' में सन्निविष्ट 'झर गई कली' नामक अन्योक्ति भी बड़ी अच्छी है। अन्योक्तियाँ भी सच्ची कविता हैं। अतएव कवियों को इस ओर ध्यान देना चाहिए।

नई रंगत की कविताओं की सबसे बड़ी विशेषता है लाक्षणिकता। कुछ वस्तुओं का प्रतीक के रूप में ग्रहण भी इसी लाक्षणिकता के अंतर्गत आ जाता है। नए ढंग की कविता के भीतर लक्षणाएँ भरी पड़ी हैं। लक्षण और उपादान दोनों प्रकार की लक्षणाओं का बहुलता के साथ उपयोग होता है। भाव-व्यंजना की यह एक पद्धति ही हो गई है। जैसे श्रीयुत पंत की यह पंक्ति देखिए। उच्छ्वास को संबोधन है—

प्रतीक

'मर्म पीड़ा के हास! (पल्लव)

इसमें 'हास' शब्द पर लक्षणा है। हास का अर्थ यहाँ पर अच्छी तरह विकसित या बढ़ा हुआ रूप है। इसी प्रकार—

"आह यह मेरा गीला गान" (पल्लव)

यहाँ गीला से तात्पर्य है अश्रु-सिक्त अर्थात् करुणापूर्ण।

श्रीयुत मैथिलीशरण गुप्त का यह वाक्य भी लक्षणा का अच्छा उदाहरण है—

बचकर हाय पतंग मरे क्या?
प्रणय छोड़ कर प्राण धरे क्या?
जले नहीं तो मरा करे क्या?
कैसी असफलता है! (साकेत)

इसमें 'मरे' और 'मरा करे' शब्द लक्षणायुक्त हैं जिनके अर्थ 'कष्ट भोगे' और 'कष्ट भोगा करे' हैं।

आधुनिक काल के एक और प्रतिनिधि कवि 'प्रसाद' से एक उदाहरण लीजिए—

अभिलाषाओं की करवट
फिर सुप्त व्यथा का जगना
सुख का सपना हो जाना
भींगी पलकों का लगना।
(आँसू)

इसमें 'करवट', 'सुप्त' और 'जगना' शब्दों पर लक्षणा है। इनका अर्थ लक्षणा से क्रमशः 'उद्वेलित होना', 'दबी हुई' और 'उद्दीप्त होना' है।

मुहावरों का प्रयोग और विरोधाभास आदि कुछ अलंकारों का प्रयोग लक्षणा के बल पर ही सिद्ध होता है।

प्रतीकों का प्रयोग भी इसी लक्षणा के बल पर होता है। यहाँ पर उस प्रतीकवाद से कोई प्रयोजन नहीं है जो आजकल सिद्धांत रूप में 'आध्यात्मिक रहस्यवाद' के साथ संबद्ध होकर चल पड़ा है। यहाँ साधारण प्रतीकों से ही काम है। प्रतीक रूप में अनेक वस्तुएँ, मुख्यतः प्राकृतिक वस्तुएँ, सभी देशों की कविता में बराबर प्रयुक्त होती आई हैं। प्रतीकों का कार्य यही है कि वे विशेष मनोविकारों या भावनाओं को जाग्रत् कर देते हैं। 'कमल' से मधुरतामयी कोमल सुंदरता की, 'चंद्र' से मृदुल आभा की, 'समुद्र' से विस्तार और गाम्भीर्य की, 'आकाश' से सूक्ष्मता, शून्यता और अनंतता की, 'सर्प' से कुटिलता, अग्नि से तेज और क्रोध तथा चातक से निःस्वार्थ प्रेम की भावना जाग्रत् होती है।

भिन्न-भिन्न देशों की परिस्थिति और संस्कृति के अनुसार प्रतीक भी भिन्न भिन्न होते हैं। ऊपर जिन प्रतीकों के नाम आए हैं वे परंपरागत भारतीय प्रतीक हैं। इसी प्रकार फारसी शायरी में 'गुल' 'बुलबुल' 'शमा' 'परवाना' शराब-प्याला,' 'सागर साकी' आदि बँधे हुए सिद्ध प्रतीक हैं। गुल और बुलबुल से जिस भावना का संकेत फारसवाले को मिलता है, उस भावना का संकेत भारतवासी को नहीं; और चातक से जो भाव भारतवासी के हृदय में जाग्रत् हो सकता है वह फारस या योरप वाले के मन में नहीं। योरप में 'क्राम' पवित्रता और नैसर्गिक शांति का बोधक है। परंतु हिंदू या बौद्ध को उससे यह भावना न प्राप्त होगी। इसी प्रकार शीत-प्रधान देशों में धूप आनंद की बोधक हो सकती है परंतु भारत ऐसे देश में तो संध्या की शांत स्निग्धता ही सुख का संकेत करती है। अंधकार और अँधेरी रात अवश्य विषाद-शोक और उदासी के सूचक हैं।

प्रतीकों का व्यवहार हमारे भारतीय काव्य में अलंकार-योजना के भीतर ही हुआ है। परंतु फिर भी उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि में प्रयुक्त उपमान और प्रतीक एक ही चीज नहीं हैं। "प्रतीक का आधार सादृश्य या साधर्म्य नहीं, बल्कि भावना जाग्रत् करने की निहित शक्ति है।" परंतु अलंकारों में सादृश्य अथवा साधर्म्य ही आधार होता है। अतएव सब उपमानों में प्रतीकत्व नहीं होता। कमर के लिए सिंह और भेंड़ में कोई प्रतीकत्व नहीं है ; यह उपमा केवल सादृश्य के आधार पर दी जाती है। प्रयोग ऐसे ही उपमानों का करना चाहिए जिनमें प्रतीकत्व भी हो क्योंकि उपमानों का काम प्रस्तुत भावना का उत्कर्ष करना है। अतः यह स्पष्ट है कि उपमान में प्रतीकत्व लाने के लिए सादृश्य और साधर्म्य उतना आवश्यक नहीं जितना प्रभाव-

साम्य। प्रभाव-साम्य को लेकर जो अप्रस्तुत-योजना की जाती है वह प्रायः प्रतीकवत् होती है। जैसे सुख के व्यंजक उषा, चंद्रिका आदि और विषाद या अवसाद के व्यंजक अंधकार, छाया अँधेरी रात आदि।

प्रकृति के भिन्न भिन्न रूपों को लेकर इस प्रकार की योजना करना आजकल की कविता की विशेषता है। 'प्रसाद' और 'पंत' से कुछ उदाहरण लीजिए—

झंझा झकोर गर्जन था
बिजली थी, नीरद-माला।
पाकर इस शून्य हृदय को
सबने आ डेरा डाला॥

—प्रसाद (आँसू)

इसमें झंझा से हृदय की व्याकुलता, 'बिजली' से पूर्ण स्मृतियाँ, 'नीरद-माला' से हृदय का उमड़ना और 'शून्यता' से आकाश की भावना व्यंजित की गई है।

अपरिचित चितवन में था प्रात
सुधामय साँसों में उपचार।

इसमें प्रात शब्द आनन्दप्रद होने और मंजुलता का प्रतीक है। इसी प्रकार—

प्रथम इच्छा का पारावार,
सुखद-आशा का स्वर्गाभास,
स्नेह का वासंती-संसार,
पुनः उच्छ्वासों का आकाश!

—पन्त (पल्लव)

यहाँ 'पारावार', 'अनन्तता' और 'वासन्ती' सुख-दशा और 'आकाश' शून्य जीवन के प्रतीक-स्वरूप प्रयुक्त हैं। इसी प्रकार इन पंक्तियों में भी—

उषा का था उर में आवास,
मुकुल का मुख में मृदुल विकास;
चाँदनी का स्वभाव में भास,
विचारों में बच्चों की साँस!

—पन्त (पल्लव)

'उषा' निष्कपटता और सहृदयता की और 'चाँदनी' स्वच्छता और शीतलता की प्रतीक है तथा मुकुल कोमलता और मृदुता का प्रतीक है। इसी प्रकार आधुनिक कविता में 'मधुप और मुकुल' प्रिय और प्रेमी के लिए रूढ़ से हो गए हैं।

यह आधुनिक कविता में प्रकृति के प्रयोग का एक साधारण दिग्दर्शन मात्र हुआ। तीसरे और इस प्रकरण को साथ देखने से पता चल जायगा कि हिंदी कविता में प्रकृति का किस किस प्रकार प्रयोग हुआ है और हिंदी काव्य में कवियों का प्रकृति के प्रति कैसा भाव रहा है और होता जा रहा है। आलोचना अभी तक जान बूझ कर नहीं की गई थी। आगामी प्रकरण में बिखरे सूत्रों का संकलन और सबकी सामूहिक रूप से आलोचना की जायगी।

———

पंचम प्रकरण

सूत्र-संकलन और आलोचना

पहले कहा जा चुका है कि इसके संयोजक जो विभाव आदि होते हैं वे ही कल्पना के मुख्य क्षेत्र हैं। कवि की कल्पना उन्हीं में पूर्ण रूप से विकसित होती है। काव्य में विभाव ही मुख्य होता है। भावों के आधार अथवा विषय का पूर्ण यथातथ्य प्रत्यक्षीकरण कवि का प्रथम कार्य होना चाहिए। विभावन व्यापार सबसे पहले होना चाहिए। परंतु कल्पना को यहाँ कवि की अनुभूति के आदेश पर चलना होता है। विभाव द्वारा वस्तु की प्रतिष्ठा हो जाने पर आगे बढ़ना चाहिए, पहले नहीं। विभाव में वस्तु-चित्र की प्रधानता होती है। अतएव जब वस्तु ही आलम्बन हो तो उसका पूर्ण चित्र ही काव्य कहलाएगा। आदि कवि वाल्मीकि, कविकुलभूषण कालिदास और महाकवि भवभूति आदि कवियों की कल्पना का प्रयोग स्थल चित्र पूरा करनेवाली वस्तुओं की योजना में होता था क्योंकि वे कवि और श्रोता दोनों के भाव का आलम्बन होती थीं। उनके दृश्यांकन द्वारा एक पूर्ण चित्र नेत्रों के सम्मुख प्रत्यक्ष हो जाता है। प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण, एक एक छोटे से छोटे ब्योरे पर ध्यान देना, ऐसे वर्णनों के लिए नितान्त आवश्यक है। ये कवि समझते थे कि कल्पना का प्रयोग संश्लिष्ट चित्रण में जितना आवश्यक है उतना अलंकार ढूँढ़ने में नहीं। इसी से उनके चित्र पूर्ण और सजीव हुए हैं। ऐसे ही कवि प्रकृति-पुत्र कहलाते हैं।

परंतु इसके अनंतर कविता में कृत्रिमता आने लगी। वह राजदरबारी होती गई। कवि प्रकृति से दूर होने लगे। नागरिक जीवन अधिकाधिक सभ्य समझा जाने लगा। कविता केवल अभ्यास-गम्य समझी जाने लगी। कल्पना काव्य का प्रकृत स्वरूप प्रतिष्ठित करने में कम और निरर्थक अलंकार-योजना द्वारा बाह्य आडंबर और चमत्कार खड़ा करने में अधिक प्रयुक्त होने लगी। कहाँ कालिदास का 'मेघदूत' और कहाँ 'माघ', श्रीहर्ष, बाण आदि के वर्णन। जहाँ मेघदूत' यहाँ से वहाँ तक एक मनोहर चित्र है वहाँ माघ का प्रभात और श्रीहर्ष का सायंकाल वर्णन अनेकानेक संभाव्य-असंभाव्य उत्प्रेक्षाओं का ढेर सा है। वे एक कौतुक से मालूम होते हैं। उपमा देना बुरा नहीं, परंतु उसका इतना प्रयोग न करना चाहिए कि प्रस्तुत वर्णन अप्रस्तुत हो जाय और मनुष्यों का मन प्रस्तुत में न रमने पाये। 'उपमा कालिदासस्य' प्रसिद्ध है, परंतु उन्होंने अपने वस्तु-चित्रों को उपमाओं के बोझ से लाद कर दबा नहीं दिया है। आदिकवि वाल्मीकि भी बीच बीच में उपमाएँ देते गए हैं, परंतु इससे उनके प्रकृति के सूक्ष्म-निरीक्षण में बाधा नहीं आने पाई है। अनेक सुन्दर व्यापारों को वे सामने लाते चले गए हैं।

"पाश्चात्य समालोचक वर्णनों के ज्ञातृ Subjective और ज्ञेय Objective) दो पक्ष लेते हैं। बाह्य, मूर्त्त प्रकृति की वस्तुओं का वर्णन ज्ञेय-पक्ष कहा जाता है और इन वस्तुओं के प्रभाव द्वारा उत्पन्न भाव ज्ञातृ-पक्ष में आता है। उपमादि अलंकार-प्रिय मनुष्य माघ, श्रीहर्ष आदि पिछले कवियों के वर्णनों को ज्ञातृ-पक्ष प्रधान कह सकते हैं। परंतु उन्हें यह जानना चाहिए कि चित्रण में वस्तु-रूप का संश्लिष्ट विन्यास प्रधान होता है। यदि वह यथातथ्य होगा तो उसके द्वारा उत्पन्न भावों आदि को श्रोता या

पाठक थोड़ा बहुत अपने आप हृदयंगम कर लेंगे। केवल सहारा देने के लिए ही कवि को अपने अन्तःकरण की झलक कहीं कहीं दिखानी चाहिए। यह झलक वह दो प्रकार से दिखा सकता है—अपने भाव का स्वयं कथन करके अर्थात् भावमय, अथवा किसी दूसरी वस्तुओं को सामने लाकर अर्थात अपर-वस्तु-मय। तालाब के किनारे खिले कमल बड़े सुंदर लगते हैं। यह पहले प्रकार की झलक हुई। इसी को इस प्रकार कहना कि "तालाब के किनारे खिले कमल, गगन-तट की साध्य अरुणिमा के समान हैं दूसरे प्रकार की झलक हुई। अतएव यह स्पष्ट है कि उपमा, उत्प्रेक्षा आदि की योजना भावों को तीव्रता प्रदान करने के लिए ही होती है। अतएव ये अपर वस्तुएँ प्रस्तुत के समान ही भाव उत्पन्न करनेवाली होनी चाहिए। तमाशा खड़ा करने के लिए उनकी योजना न होनी चाहिए क्योंकि उससे वर्ण्य वस्तु पर से ध्यान हट जाता है और काव्य का गाम्भीर्य नष्ट होता है। खेद की बात है कि संस्कृत के पिछले कवियों ने इस पर ध्यान नहीं दिया और वे भाँति भाँति की दिमागी कसरत दिखाने में ही लगे रहे।

ऋतु-वर्णनों की दशा भी ऐसी ही हुई। 'ऋतुसंहार' नामक काव्य के कालिदास द्वारा प्रणीत होने में कुछ विद्वानों को अभी संदेह है। परंतु यदि उसे कालिदास का ही लिखा मान लें तो कहना पड़ेगा कि कालिदास के ही समय से अथवा उसके कुछ पहले से, दृश्य-चित्रण के संबंध में दो मार्ग हो गए। स्थल-वर्णनों में तो सूक्ष्म और संश्लिष्ट चित्रण वैसा ही रहा परंतु ऋतु-वर्णनों में ब्योरेवार चित्रण उतना आवश्यक नहीं समझा गया। थोड़ी-सी मिली मिलाई वस्तुओं के उल्लेख मात्र द्वारा भावों का उद्दीपन ही पर्याप्त समझा गया। ऋतु-वर्णन वैसे ही फुटकल पदों के रूप

में पढ़े जाने लगे जैसे बारहमासा पढ़ा जाता है। अतः उनमें अनुप्रास और शब्दों के माधुर्य आदि का ध्यान अधिक रहने लगा।

रीति-ग्रंथों के अधिक निर्माण और प्रचार के कारण, यह ढंग उत्तरोत्तर उत्कर्ष पाता गया, जोर पकड़ता गया। प्राकृतिक वस्तु-व्यापार का सूक्ष्म निरीक्षण धीरे धीरे कम होता गया। किस ऋतु में क्या क्या वर्णन करना चाहिए, इसका आधार प्रत्यक्ष अनुभव नहीं रह गया, 'आप्त शब्द' हुआ। वर्षा के वर्णन में जो कदम्ब, कुटज, इन्द्रवधू, मेघगर्जन, विद्युत् इत्यादि का नाम लिया जाता रहा वह इसलिए कि भगवान् भरत मुनि की आज्ञा थी कि

> कदम्बनिम्बकुटजैः शाद्वलैः सेन्द्रगोपकैः।
> मेघवातैः सुखस्पर्शैः प्रावृट्कालं प्रदर्शयेत्॥

ऋतु-वर्णन की यह प्रथा निकल ही रही थी कि कवियों को भी औरों की देखादेखी दंगल का शौक पैदा हुआ। राजसभाओं में ललकार कर टेढ़ी-मेढ़ी विकट समस्याएँ दी जाने लगीं और कवि लोग उपमा, उत्प्रेक्षा आदि की अद्भुत-अद्भुत उक्तियों द्वारा उनकी पूर्ति करने लगे। ये उक्तियाँ जितनी ही बेसिर-पैर की होती थीं, उतनी ही वाहवाही मिलती। काश्मीर में मंखक कवि जब अपना 'श्रीकण्ठचरित' काव्य काश्मीर के राजा की सभा में ले गए तब वहाँ कन्नौज के राजा गोविन्दचन्द्र के दूत सुहल ने उन्हें यह समस्या दी—

> एतद्बभ्रुकचानुकारिकिरणं राजद्रुहोऽद्रुहः शिर—
> श्छेदाभं वियतः प्रतीचि निपतत्यब्धौ रवेर्मण्डलम्॥

इसकी पूर्ति मंखक ने इस प्रकार की—

> एषापि द्युरमा प्रियानुगमनं प्रोद्दामकाष्ठोत्थिते—
> संध्याग्नौ विरचय्य तारकमिषाज्जातास्थिशेषस्थितिः॥

दिशाओं में उत्पन्न संध्या रूपी प्रचण्ड अग्नि में अपने प्रियतम का अनुगमन करके आकाश की श्री (शोभा) भी तारों के बहाने (रूप में) अस्थिशेष हो गई। मतलब यह कि सती हो जानेवाली आकाश-श्री की जो हड्डियाँ रह गई हैं वे ही ये तारे हैं।

कहाँ ऋषि-कवि का पाले से धुँधले चन्द्रमा का मुँह की भाप से अन्धे दर्पण के साथ मिलान और कहाँ तारे और हड्डियाँ! खैर, यहाँ दोनों का रंग तो सफेद है। आगे चलकर तो यह दशा हुई कि दो दो वस्तुओं को लेकर सांग रूपक बाँधते चले जा रहे हैं, वे किसी बात में परस्पर मिलती जुलती भी हैं या नहीं, इससे कोई मतलब नहीं, सांग रूपक की रस्म तो अदा हो रही है।" ऐसी बाजीगरी को काव्य में परिगणित देखकर कोई 'वाक्यम् रसात्मकम् काव्यम्' में संदेह करे तो उसका कोई दोष नहीं।

हिंदी के प्राचीन कवियों के हिस्से में संस्कृत के पिछले कवियों की परम्परा, अर्थात् आप्त वाक्य वाली ऋतु-वर्णन और उपमा उत्प्रेक्षा आदि वाली दृश्य-वर्णन की प्रथा ही आई। फल-स्वरूप हिंदी की प्राचीन कविता में स्थल वर्णनों और संश्लिष्ट चित्रणों का पूर्ण अभाव है। जहाँ सीधे वर्णन भी मिलेंगे वे प्रायः अनुप्रास, यमक आदि से लदे होंगे अथवा उनमें उपमा, रूपक की भरमार होगी। ऋतु-वर्णनों में भी प्रायः वस्तु-परिगणन मात्र है। नायक या नायिका को ऋतुओं द्वारा कभी हर्ष से पुलकित कर और कभी वियोग से व्याकुल कर वे चलते बने।

इसके अनेक कारण थे। पहला कारण तो आचार्यों के रीति-ग्रंथ थे। इनके कारण कवियों की दृष्टि परिमित हो गई। यह न समझकर कि लक्ष्य-ग्रंथों के आधार पर ही लक्षण-ग्रंथ बनते हैं, और यह कोई बात नहीं है कि सब लक्ष्य-ग्रंथ बन ही चुके हों,

कविगण उन लक्षणों को आवश्यक नियम समझने लगे। इस परंपरा-पालन के कारण ही कवियों ने प्रखर नदियों में कमल और मिथिला में एला, लवंग आदि का वर्णन किया है। दूसरा कारण था कवियों का प्राकृतिक जीवन से दूर हो जाना। आधुनिक सभ्यता के साथ साथ नागरिक जीवन भी बढ़ता गया। कवि प्रकृति से दूर होते गए। हम लोगों को अपने सुख-दुःख हानि-लाभ आदि की ही चिंता अधिक रहने लगी, स्वार्थ-साधन ही परम लक्ष्य हो गया। कदाचित् योरप की ऐसी ही बढ़ती हुई प्रवृत्ति को देखकर वर्ड्सवर्थ ने अपनी यह चतुर्दशपदी Sonnet) लिखी थी—

The world is too much with us; late and soon,
Ge ting and spending, we lay waste our powers;
Little we see in Nature that is ours;
We heve given our hearts away, a sordid boon!
This Sea that bares her bosom to the moon,
The winds that will be howling at all hours
And are up-gathered now like sleeping flowers,
For this, for everything, we are out of tune;
It moves us not.—Great God! I'd rather be
A pagan suckled in a creed outworn,
So might I, standing on this pleasant lea,
Have glimpses that would make me less forlorn;
Have sight of Proteus rising from the sea;
Or hear old Triton blow his wreathed horn

वाल्मीकि आदि का प्रकृति से सीधा सम्बन्ध था। उनका प्रकृति-निरीक्षण प्रत्यक्ष था। परंतु नागरिक जीवन में प्रकृति का

अभाव सा हो गया। कवियों को सूक्ष्म निरीक्षण का अवसर ही नहीं रहा। तीसरा कारण था हिंदी में प्रबंध-काव्यों की कमी और कविता का मुक्तक रूप में होना। आज भी हिंदी में प्रगीत मुक्तकों के कारण सफल प्रबन्ध-काव्य के दर्शन दुर्लभ हैं। पूर्ण और संश्लिष्ट चित्रण के लिए प्रबंध-काव्यों में ही अधिक स्थान होता है, मुक्तकों में नहीं। संस्कृत में भी उद्दीपन वाली कविता अधिकतर मुक्तकों के रूप में ही पाई जाती है। तुलसी और जायसी ने भी अपने प्रबंध-काव्यों में प्रकृति का ग्रहण आलम्बन रूप में नहीं किया। कवि और सयाने जब एक ही समझे जाने लगे तब मनुष्य के व्यवसाय विशेष की जानकारी का खजाना भी काव्यों में खुलने लगा।" कहीं व्यंजनों की सूची है तो कहीं हाथी घोड़ों के भेदों की और कहीं हथियारों की। जायसी ने भी इसी की ओर अपनी रुचि दिखाई। अपने वर्णनों में उन्होंने बगीचे का भी वर्णन किया है। पहले उसमें केवल "पेड़ों और चिड़ियों की फेहरिश्त है, जो बहेलियों और मालियों से भी मिल सकती है।" गोस्वामीजी ने रूपक और दृष्टान्त की ओर ही अधिक रुचि दिखाई।

सबसे बड़ा कारण कविता का राजदरबार-आश्रित होना था। कविगण कविता 'स्वान्तःसुखाय' नहीं राजाओं के मनस्तोष के लिए करते थे। चमत्कार ही कविता का लक्ष्य हो गया। ऐसी दशा में ऐसे चमत्कारवादी कवियों का उत्पन्न होना आवश्यक था जो राजदरबार में वाहवाही लूट सकें। राजाश्रित होने के कारण शृङ्गार रस की ही विशेष उन्नति हुई और फलस्वरूप प्रकृति-वर्णन उद्दीपन में ही रह गया। "काव्य में इसी असाधारणत्व और चमत्कार की ओछी रुचि के कारण बहुत से लोग अतिशयोक्तिपूर्ण अशक्त वाक्यों में ही काव्यत्व समझने

लगे। कोई बिहारी के विरह-वर्णन पर सिर हिलाता है, तो कोई यार की कमर गायब होने पर वाह वाह करता है। कालिदास ने अत्यंत प्राकृतिक ढंग से रथ को धूल के आगे निकाला, तो भूषण ने घोड़े को छोड़े हुए तीर से एक तीर आगे कर दिया। पर मुबालगा जहाँ हद से ज्यादा बढ़ा कि मजाक हुआ।

चमत्कार पर मुग्ध होनेवाले जब काव्य-रसिकों की उच्च पदवी पा गए तब नारायण पंडित ऐसे लोगों को सब जगह अद्भुत रस ही दिखलाई पड़ने लगा। उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कार सारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥"

परंतु पंडितजी ने यह न सोचा कि "रस के भेद प्रस्तुत वस्तु या भाव के विचार से किए गए हैं, अप्रस्तुत या साधन के विचार से नहीं।"

कविता जब राज-दरबार-आश्रित होकर राजा महाराजाओं के मनस्तोष का विषय हो गई, तो मनोरंजन ही उसका चरम लक्ष्य हो गया। वह केवल विलास की सामग्री हो गई। हिंदी के रीतिकाल के कवि तो मानो राजा-महाराजाओं की काम-वासना उत्तेजित करने के लिए ही होते थे। "एक प्रकार के कविराज तो रईसों के मुँह में मकरध्वज-रस झोंकते थे, दूसरे प्रकार के कविराज कान में मकरध्वज रस की पिचकारी देते थे।" प्रकृति-वर्णन में षड्ऋतु-वर्णन ही उनकी समझ में आता था और षड्ऋतु और उद्दीपन उनके लिए पर्यायवाची शब्द थे। उनके हिसाब से दोनों में अन्योन्याश्रय संबंध था। कहीं कहीं तो यह ऋतु-वर्णन होकर उपचार का नुस्खा हो गया है। 'ग्वाल'

की गर्मी की दवा और पद्माकर के शिशिर के नुस्खे का उल्लेख तृतीय प्रकरण में हो चुका है।

संस्कृत काव्य की तरह हिंदी में भी षड्ऋतु-वर्णन का दौर-दौरा रहा परंतु उद्दीपन के रूप में। 'सेनापति' 'ग्वाल', 'पद्माकर' आदि सबके वर्णन उद्दीपन-प्रधान ही हैं। सेनापति का वर्णन बहुत अच्छा कहा जाता है और है भी, परंतु उसमें भी उद्दीपनात्मक वर्णन आ ही गए हैं। प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण और ब्यौरेवार संश्लिष्ट चित्रण का किसी ने प्रयत्न नहीं किया है। यदि कहीं सीधा सादा वर्णन है भी तो अनुप्रास, यमक आदि का चमत्कार दिखाने के लिए। इनको पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो नायक-नायिका के सुख दुःख का उल्लेख भूल से छूट गया है, नहीं तो और सब बातें वैसी ही हैं। परंपरा-पालन के लिए जहाँ चित्र खींचे गए हैं वहाँ वे पूर्ण चित्र की कौन कहे चित्र भी नहीं हुए हैं। वे ऐसे ही हैं जैसे कोई चित्रकार बनाते बनाते चित्र को असम्पूर्ण छोड़ जाय, जिसमें एक ब्रश यहाँ लगा हो एक वहाँ, कहीं रंग भरा हो और कहीं रिक्त स्थल। वाल्मीकि और तुलसी के वर्षा-वर्णनों की तुलना करने से यह स्पष्ट हो जायगा।

उपमा, उत्प्रेक्षा आदि की भरमार भी चमत्कारवाद के कारण हुई। इसने इतना जोर पकड़ा कि कवि इसी में अपने काव्य का साफल्य समझने लगे। कोई एक वस्तु उनके सामने आई कि वे उपमा के पीछे परेशान नजर आते हैं। "श्याम के छबीले मुख का ध्यान आया तो बस अंधे सूरदास चारों ओर उपमा टटोल रहे हैं। उपमाएँ मिलती गईं तब तो ठीक, नहीं तो बस 'शेष, शारदा' पर फिरे, उनकी इज्जत लेने पर उतारू।" वाहवाही लूटने के लिए दूर की उड़ान का होना आवश्यक था। जो कवि

जितनी दूर की कौड़ी ला सकता था वह उतना ही सफल समझा जाता था। बिहारी, देव, पद्माकर आदि इसके लिए प्रसिद्ध हैं। रूपक, उत्प्रेक्षाएँ आदि जितनी ही असम्भाव्य और ऊटपटांग होती थीं, कवि का मान उतना ही अधिक होता था। कविता बाजीगरी का तमाशा समझी जाने लगी थी। कोई वर्षा का कालिका रूप खड़ा करता था और किसी को पावस में फिरंगी के दर्शन प्राप्त होते थे। इससे कोई मतलब नहीं कि उसके द्वारा ऐसा भाव द्रष्टा के मन में होता है या नहीं। तुलसीदासजी से लेकर भारतेंदुजी तक ऐसे वर्णन भरे पड़े हैं। प्रस्तुत दृश्य की ओर कवियों की दृष्टि जमती ही न थी। उसमें उनको कोई सुंदरता नहीं मिलती थी। हाँ, जब वे उपमा या उत्प्रेक्षा के रूप में आते थे तब अवश्य प्रिय हो जाते थे। उन्होंने साफ़ कह दिया है कि "देखे मुख भावै, अनदेखेई कमल-चन्द, ताते मुख मुखै, सखी! कमलौ न चन्द री।" परंतु यह बात केशव ऐसे लीक पीटनेवाले कवियों में ही नहीं, महाकवि कहलाने वाले अनेक कवियों में पाई जाती है।

अलंकारों में साम्य तीन प्रकार का माना गया है—सादृश्य, साधर्म्य तथा शब्द-साम्य। केशव ऐसे कलाबाज़ तो शब्द साम्य को ही प्रधान मानते थे। साधर्म्य में गुण-क्रिया आदि की समानता होती है। सादृश्य में रूप की समानता का ध्यान रखा जाता है। 'उपमानों की योजना सौंदर्य, माधुर्य, दीप्ति, कान्ति आदि भावों के उत्कर्ष के लिए ही होती है। अप्रस्तुत वस्तुओं का काम प्रस्तुत के द्वारा उत्पन्न भावना में वृद्धि करना है। अतएव प्रभाव-साम्य पर पहले प्रयत्न रखना चाहिए। पुराने कवियों ने केवल रूप-रंग की समानता को लेकर सुंदर वस्तुओं के अनेक भद्दे उपमान खड़े किए हैं। उदाहरणार्थ सिंह या

भिड़ की कमर से कमर की उपमा। यह न सोचा कि भिड़ की कमर का चित्र कल्पना में आने से किसी प्रकार की सौंदर्य-भावना मन में न आ सकी और सिहनी के सामने आ जाने पर तो जो कुछ सौंदर्य-भावना पहले से जगी भी होगी वह भी भाग खड़ी होगी।" इसी प्रकार यदि ज़रा सी झुकी हुई नाक पसंद आई तो उसे इतना झुकाया कि तोते की नाक बनाकर ही दम लिया। ऐसे ही जंघा को हाथी की सूँड़ या कदली स्तम्भ, गले को शंख, कान को पुरइन का पत्ता आदि कहना रूप को कुरूप करना है। परंतु कहीं कहीं जहाँ प्रभाव-साम्य पर दृष्टि रखकर अप्रस्तुत-योजना की गई है वहाँ वह बड़ी हृदयग्राहिणी हुई है, जैसे सूर की ये पंक्तियाँ—

ज्यों चकई प्रतिबिम्ब देखि कै आनन्दी प्रिय जानि।
'सूर' पवन मिस निठुर बिधाता चपल कियो जल आनि॥

प्रकृति-वर्णन में उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का स्थान कितना गौण है इसका पता इस प्रकार लग सकता है। मान लीजिए कि हम किसी मनुष्य को एक रम्य स्थल का चित्र वर्णन करके सुनाते हैं और बीच बीच में अनेक उपमाएँ भी देते जाते हैं। दो तीन महीने बाद उसी दृश्य का वर्णन हम उससे करने को फिर कहते हैं। हम देखेंगे कि चित्र-योजना करनेवाली वस्तुएँ वह अधिकतर कह जायगा परंतु उन उपमाओं में से संभवतः उसे कोई याद न होगी। कारण यह है कि उन वस्तुओं और व्यापारों में हृदय लीन था, शेष में नहीं।

पाश्चात्य आलोचनाओं में कभी कभी यह कहा जाता है कि प्रकृति का यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण काव्य तो है परंतु उच्चकोटि का नहीं। उनका कहना यह है कि प्रकृति के बाह्य रूप का ही नहीं उसके आभ्यन्तर रूप का भी चित्रण होना चाहिए। अर्थात

उसी व्यंजना पर भी ध्यान देना चहिए। जैसा कि तृतीय प्रकरण में कहा जा चुका है, प्रकृति के अनेक रूप-व्यापार बहुत से भावों, तथ्यों, अन्तर्दशाओं आदि की व्यंजना करते हैं। सर्व साधारण यद्यपि इस व्यंजना को नहीं देख सकते किंतु सहृदय और भावुक अवश्य उसका अनुभव कर सकते हैं। "यदि हम खिली कुमुदिनी को हँसती हुई कहें, मंजरियों से लदे हुए आम को माता (उन्मत्त) और फूले अंगों न समाता समझें, वर्षा का पहला जल पाकर साफ सुथरे और हरे पेड़ पौधों को तृप्त और प्रसन्न बताएँ, कड़कड़ाती धूप से तपते किसी बड़े मैदान के अकेले ऊँचे पेड़ को धूप में चलते प्राणियों को विश्राम के लिए बुलाता हुआ कहें, पृथ्वी को पालती-पोसती हुई स्नेहमयी माता पुकारें, नदी की बहती धारा को जीवन का सचार सूचित करें, गिरि-शिखर से स्पष्ट झुकी हुई मेघमाला के दृश्य में पृथ्वी और आकाश का उमंग-भरा, शीतल, सरस और छायावृत आलिंगन देखें, तो प्रकृति की अभिव्यक्ति की सीमा के भीतर ही रहेंगे।"

प्रकृति की ऐसी सच्ची व्यंजनाओं के आधार पर जो भाव, तथ्य, उपदेश आदि निकाले जायँगे, उनका परिगणन भी शुद्ध सच्चे काव्य के अंतर्गत होगा। अन्योक्तियों का विधान प्रकृति की ऐसी ही सच्ची व्यंजनाओं को लेकर होता है। इसी कारण वे इतनी मर्मस्पर्शिणी होती हैं। अन्योक्ति में प्रस्तुत वस्तु व्यंग्य होती है। जो प्राकृतिक रूप-व्यापार सामने उपस्थित किया जाता है उसके द्वारा किसी दूसरे वस्तु की—प्राय: किसी जीवन-संबंधी तथ्य की—व्यंजना इष्ट होती है। ध्यान देने की बात केवल इतनी है कि यह व्यंग्य तथ्यज्ञान होता है। हम इसका अनुभव पहले कर चुके होते हैं और इस प्रकार वह हमारे हृदय को

स्पर्श कर चुका होता है। इसलिए प्राकृतिक दृश्यों द्वारा तथ्य व्यंजना बहुत स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक होती है। संस्कृत काव्य में अनेकानेक अन्योक्तियाँ इसी ढंग की हैं। बाबा दीन-दयालगिरि ने भी अपने 'अन्योक्ति-कल्पद्रुम' में ऐसी ही बहुत सी मर्मस्पर्शिणी अन्योक्तियाँ कही हैं।

इस प्रकार के गृहीत तथ्यों का रमणीय वर्णन काव्य का एक बहुत आवश्यक अंग है। परंतु प्राकृतिक रूपों का यथातथ्य संश्लिष्ट चित्रण भी उतना ही, यदि उससे अधिक नहीं, आवश्यक अग है। दोनों की सत्ता पृथक् पृथक् है। दोनों की योजना अलग अलग दृष्टियों से की जाती है। आलबन-स्वरूप संश्लिष्ट चित्रण में कवि प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति अपना अनुराग सीधी तरह से प्रकट करता है। इसी अनुराग के कारण उसकी दृष्टि छोटे से छोटे ब्यौरे की ओर जाती है। परंतु अन्योक्तियों, गृहीत तथ्यों, उपदेशों आदि में कार्य की दृष्टि प्रकृति पर न होकर मानव-जीवन पर होती है। यही दोनों में भेद है। दोनों का माध्यम समान है। "इनमें से किसी एक को उच्च और दूसरे को मध्यम कहना एक आँख बंद करना है।"

रूपकातिशयोक्ति, दृष्टान्त, उपदेश, उदाहरण आदि के बारे में कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। रूपकातिशयोक्ति केवल बालरुचिवालों के लिए है। वह बिलकुल लड़कों का तमाशा सा प्रतीत होती है। भिन्न भिन्न उपमानों को लेकर एक के ऊपर दूसरे को लादते चले जाने से जो अद्भुत वस्तु उपस्थित की जाती है उसे काव्य में परिगणित ही नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार प्रकृति का संश्लिष्ट चित्र उपस्थित करते समय दृष्टान्तों, उदाहरणों और उपदेशों की भरमार भी प्रकृति को

विकृत करना है। भागवत के दृष्टान्त और उदाहरण लेकर गो० तुलसीदासजी ने किष्किन्धाकाण्ड में वर्षा और शरद् का जो वर्णन किया है वह ऐसा ही है। उसमें प्रस्तुत वस्तु और व्यापार दृष्टान्तों के सामने दब से गए हैं। श्रोता अथवा पाठक का ध्यान वर्ण्य वस्तुओं की ओर जमने नहीं पाता। स्थल-वर्णन और ऋतु आदि के सम्बद्ध ब्योरेवार वर्णन में ऐसा नहीं होना चाहिए। प्रकृति की अभिव्यंजना के अतिरिक्त अन्य भावों, तथ्यों आदि का प्रकृति पर आरोप करना अप्रस्तुतों में ही परिगणित होने का सौभाग्य प्राप्त कर सकेगा, चाहे वह किसी गिनाए हुए अलंकार की परिभाषा में न आता हो। उसका मूल्य बाहरी वस्तु का सा ही होगा। वह एक फालतू या ऊपरी चीज ही होगी। "यदि हम कोई उपदेश निकालें, चाहे सादृश्य या साधर्म्य के सहारे कोई नैतिक या 'आध्यात्मिक' तथ्य उपस्थित करें चाहे अपनी कल्पना या भावना का मूर्त विधान करें, वह उपदेश, तथ्य या विधान प्रकृति के किसी वास्तविक मर्म का उद्घाटन न होगा।"

हिंदी के आधुनिक काल को हम प्रकृति-विषयक काव्य की दृष्टि से हिंदी का पुनरुत्थान काल कह सकते हैं। जैसा कि कहा जा चुका है इसका बहुत कुछ कारण अँगरेजी और संस्कृत काव्य का अध्ययन था। आलम्बन के रूप में प्रकृति-वर्णन की ओर कवियों का ध्यान जाने लगा। अनेक कवि प्रकृति की सुंदरता और मनोहरता की मार्मिक अनुभूति लेकर काव्यक्षेत्र में आए। स्वर्गीय श्रीयुत श्रीधर पाठक, पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय, पं० रामचंद्र शुक्ल, श्रीयुत सुमित्रानन्दन पंत आदि का उल्लेख हो चुका है। इन लोगों ने हिंदी काव्य-भाण्डार की एक बड़ी भारी कमी को पूर्ण करने का सफल प्रयत्न किया है।

ऋतु-वर्णन स्थल-वर्णन आदि सभी के ब्योरेवार, सजीव, सम्बद्ध चित्र मिलते हैं।

ऋतु-वर्णनों में उद्दीपन की चेष्टा एक प्रकार से बिलकुल नहीं रही। स्वर्गीय श्रीयुत 'रत्नाकर' प्रभृति पुराने ढाँचे के कवियों में संभव है वह मिल जाय परंतु वह नहीं के बराबर ही है। काव्यभाषा व्रज से खड़ी बोली होने के साथ ही साथ यह रीति भी उठ गई। स्वयं 'रत्नाकर' जी ने प्रकृति का आलंबन रूप में बड़ा सुंदर चित्रण किया है जैसे उनके 'हरिश्चंद्र' में आया हुआ श्मशान-वर्णन।

अप्रस्तुतोंवाली पुरानी परंपरा भी कभी कभी लक्षित होती रही जैसे भारतेंदु के गंगा-यमुना-वर्णन में। परंतु नए ढंग की कविताओं में तो अप्रस्तुतों की बाढ़ सी आ गई। इनमें अप्रस्तुत-योजना के आधार का विकास हुआ। प्राचीन कवि जहाँ रूपसाम्य ही मुख्य समझते थे वहाँ आधुनिक कवि प्रभावसाम्य पर दृष्टि रखने लगे। दो वस्तुएँ रूप-रंग में मिलती हैं या नहीं इसकी ओर उनका ध्यान कम रहने लगा। इतना ही पर्याप्त था कि उपमान द्वारा श्रोता या पाठक के मन पर वही प्रभाव पड़ता है या नहीं जो प्रस्तुत वस्तु द्वारा पड़ता है। बस, निःशंक उपमा दे दी जाती है। इस प्रकार नए उपमानों और नई ढंग की अप्रस्तुत-योजना की सृष्टि हुई। यह बहुत उचित था। यदि नवीन योजनाएँ न की जायँगी तो अप्रस्तुत वस्तुएँ रूढ़ हो जायँगी और उन्हीं का पिष्टपेषण होता रहेगा जैसे नीरव वेदना, तरी, हृत्तंत्री आदि शब्द आजकल की कविता में रूढ़ हो गए हैं।

प्रभावसाम्य को लेकर अप्रस्तुत-योजना काव्य की अत्यंत उत्कृष्ट पद्धति है इसमें संदेह नहीं। पर इस प्रकार की नवीन

योजना करने के लिए प्रभाव को ठीक ठीक ग्रहण करनेवाला प्रतिनिधि-हृदय चाहिए। प्रभाव भी ऐसा होना चाहिए जिसे थोड़ा बहुत सबका हृदय ग्रहण कर सके। यदि चूहे को या बिल्ली को देखकर किसी में भय का संचार हो जाता हो और वह अपनी रचना में चूहा या बिल्ली खड़ी करके भय की अनुभूति उत्पन्न कराना चाहे तो असफल रहेगा। दूसरी बात यह है कि जहाँ साम्य बहुत अस्पष्ट होगा, धुँधला सा होगा, वहाँ प्रभाव न पड़ेगा। पंत में यह बात प्रायः मिलेगी। उनमें व्यक्तित्व का प्रदर्शन अधिक है। व्यक्तिगत रुचि और अनुभूति पर अधिक विश्वास होने के कारण उनकी बहुत सी उक्तियाँ लोक की सामान्य हृदय-भूमि से दूर पड़ी हुई जान पड़ती हैं, जैसे

विहंगम सा बैठा गिरि पर।
सुहाता था विशाल अंबर ॥ (पल्लव)

इसमें आकाश का पहाड़ के ऊपर पक्षी की तरह शोभायमान होना कवि की व्यक्तिगत अनुभूति और रुचि है। सर्वसाधारण उसे इस रूप में सम्यक् रीति से ग्रहण नहीं कर सकते। इसी प्रकार 'नवोढ़ा बाल लहर', 'छपी सी पी सी मृदु मुस्कान' आदि अनेक उपमाएँ 'पल्लव' में ऐसी ही हैं।

अप्रस्तुत-योजना पर ही ध्यान देने की प्रवृत्ति आजकल बढ़ रही है। यह प्रवृत्ति क्रोचे के अभिव्यंजनावाद के फलस्वरूप आजकल बहुत ही जोर पकड़े हुए है। श्रीयुत पंत ऐसे मार्मिक अनुभूतिसंपन्न कवियों में भी यह प्रवृत्ति कहीं कहीं अधिक मात्रा में दिखाई पड़ती है जैसे 'वीर्य विलास' 'छाया' 'नक्षत्र' 'चाँदनी' आदि कविताओं में। काव्य में प्रतिभा या कल्पना का काम भाँति भाँति के अप्रस्तुतों का विधान करना ही नहीं है। यदि अप्रस्तुत-योजना को ही काव्य मान लिया जायगा तो

वाल्मीकि, कालिदास, शेली, वर्डस्वर्थ, मेरिडिथ आदि के सुंदर चित्र काव्य में परिगणित ही न हो सकेंगे। परंतु ऐसा नहीं है। प्रस्तुत का रूपविधान भी कवि अपनी प्रतिभा और कल्पना द्वारा ही करता है। प्रस्तुत की प्रतिष्ठा कवि-कल्पना का सर्वप्रथम कार्य होना चाहिए। "जो नाना प्रकार के अप्रस्तुत उपमान जोड़ने में ही काव्य समझेंगे उनके हृदय पर प्रकृति की नाना वस्तुओं और व्यापारों का कोई मार्मिक प्रभाव न रह जायगा। वे मार्मिक से मार्मिक प्रत्यक्ष दृश्य के सामने वार्निश किए हुए काठ के कुंदे या गढ़ी हुई पत्थर की मूर्ति के समान खड़े रह जायँगे। ऐसे लोगों के द्वारा काव्य का विभाव पक्ष ही ध्वस्त हो जायगा।"

आधुनिक कविता में अँगरेजी का प्रभाव जहाँ सबसे स्पष्ट लक्षित होता है वह है रहस्य-संकेत में। आधुनिक हिंदी कविता का नाम ही रहस्यवादी हो गया है। नए ढंग के प्रायः सभी कवि 'अनन्त' 'असीम' को अपनी कविता में बाँधा करते हैं। परंतु यह उचित नहीं। नए ढंग की जितनी कविताएँ बने सब में कहीं न कहीं "असीम, अनन्त को सम्पुटित करने" की कोई आवश्यकता नहीं। आजकल जितनी कविताएँ छायावाद या 'रहस्यवाद' के नाम से पुकारी जाती हैं उनमें से अधिकांश का इन पदों से कोई संबंध नहीं होता। नई व्यंजना प्रणाली में लक्षणा के प्रचुर प्रयोग से और उसके अंतर्वृत्ति-निरूपक होने के कारण, एक विलक्षणता आ जाती है जो पुरानी कविता में नहीं थी। परंतु इन सब कारणों से कविता रहस्यवादी नहीं हो जाती।

जैसा कि कहा जा चुका है प्रकृति के रूप-सौंदर्य द्वारा रहस्य-संकेत की भावना कदाचित् अँगरेजी से आई है। वर्डस्वर्थ-कोलरिज का उल्लेख हो चुका है। शेली में भी कहीं कहीं,

परंतु बहुत ही कम, इस प्रकार की भावना मिलती है। परंतु इन लोगों की रहस्य-भावना साम्प्रदायिक अथवा वाद के रूप में नहीं है। उसमें ऊपर से आरोप अथवा खींच-तान न मिलेगी। वह सहज सुंदर और सरल है।

हमारे यहाँ प्रकृति ब्रह्म की प्रत्यक्ष विभूति मानी जाती है। प्रकृति ब्रह्म का गोचर रूप है। अतएव प्रकृति द्वारा उस परोक्ष सत्ता का आभास मिलना स्वाभाविक है। "शिशिर के अंत में उठी हुई धूल छाई रहने के कारण किसी भारी मैदान के क्षितिज से मिले हुए छोर पर वृक्षावलि की जो धुँधली श्यामल रेखा दिखाई पड़ती है उसके पार किसी अज्ञात दूर देश का आरोप, बहुत सुंदर और मधुर आरोप, स्वभावतः आप से आप होता है। इसी प्रकार दूर से दिखाई पड़ती हुई पर्वतों की धुँधली, नीली चोटियाँ भी मनोवृत्ति को रहस्योन्मुख करती हैं और अपने भीतर कल्पना का रूप-विन्यास करने का अवसर देती हैं। पश्चिम दिगंचल की सांध्य स्वर्णधारा के बीच धूम्र, कपिश घन द्वीपों से होकर जाता हुआ स्वर्ग का मार्ग सा खुला दिखाई पड़ता है। विश्व की विशाल विभूति के भीतर न जाने कितने ऐसे दृश्य हमारी अंतर्वृत्ति को रहस्योन्मुख करते हैं।" सहज प्राप्त और स्वाभाविक रहस्य-भावना बहुत सुंदर, रमणीक और चित्ताकर्षक भावना है। रसों की लोकोत्तरानंददायक भूमि में इसका एक विशेष स्थान मानना चाहिए।

हिंदी के नए उच्चकोटि के कवियों में स्वाभाविक रहस्य-भावना मिलेगी। श्रीयुत पंत की प्रायः सभी कविताएँ जगत् और जीवन से संबंध रखती हैं यद्यपि वे 'वाद' से अपने को बिलकुल मुक्त नहीं कर सके हैं। 'मौन निमंत्रण' ऐसी एक आध कविता में दूरारूढ़ रहस्य-भावना भी है। श्रीयुत 'प्रसाद' भी वेदना की

विवृति अथवा सुख-सौंदर्य की रमणीयता को लेकर चलते थे। 'लहर' में अवश्य कुछ कविताएँ 'वादियों' के काम की हैं। परंतु केवल किसी किसी स्थान पर 'स्वप्न', 'छाया', 'मद', 'मदिरा' आदि कुछ शब्दों और अनंत, असीम की ओर संकेतों अथवा दो चार कविताओं में 'वादियों' के ढंग की दूरारूढ़ रहस्य-योजना होने से ही कवि-रहस्यवादियों के संप्रदाय में नहीं ढकेला जा सकता। सबसे अधिक रहस्य-भावना श्रीमती वर्मा में पाई जाती है परंतु स्वाभाविक अधिक, वादग्रस्त कम।

प्राचीन काल में जो स्थान अन्योक्तियों और उपदेशों का था वही आधुनिक काल में प्रकृति के रूप-व्यापारों द्वारा दार्शनिक तथ्य ग्रहण करने की प्रवृत्ति ने ले लिया है। प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों में कभी कभी हमें जीवन के तथ्यों का, मार्मिक अनुभूतियों का मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण मिलता है। अन्योक्तियों में यह तथ्य प्रच्छन्न रहता है और श्रोता या पाठक को वह छिपा हुआ प्रस्तुत तथ्य ढूँढ़ निकालना होता है। परंतु आजकल कवि उन व्यंजक रूप-व्यापारों का वर्णन करके तथ्यों का स्पष्ट उल्लेख कर देता है। ऐसे अवसरों पर कभी कभी वे तथ्य केवल कवि के भावों का आरोप मात्र जान पड़ते हैं। उन दृश्यों में स्वाभाविक रीति से निकली हुई व्यंजना नहीं। परंतु ऐसी अनुभूति सहृदयमात्र को हो सकती है इसमें संदेह नहीं। टेनिसन के 'स्रोत' (The Brook) अर्नाल्ड के 'यूथ आव् नेचर' और वर्ड्स्वर्थ के 'एक शिक्षा' (A Lesson) का उल्लेख हो चुका है। ऐसी अभिव्यंजनाओं का स्पष्टीकरण भी सच्ची कविताओं के अंतर्गत है। अन्योक्तियों का विधान ऐसी ही व्यंजनाओं को लेकर होता है। संस्कृत में भी ऐसी कविता मिलती है। उदाहरणार्थ—

तस्यास्तिक्तैर्वनगजमदैर्वासितं वान्तवृष्टि-
र्जम्बूकुंजप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः ।
अन्तःसारं घन तुलयितुं नानिलः शक्ष्यति त्वां
रिक्तः सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय ॥
—कालिदास (मेघदूत)

बादल में जब पानी भरा रहता है तब हवा उसे नहीं उड़ा पाती। खाली रहने पर वह मारा मारा फिरता है। इसी को लेकर कवि ने अंतिम पंक्ति में कहा है कि रीते सदैव तुच्छ होते हैं। बिना पूर्णता के गौरव प्राप्त नहीं होता। हिंदी में भी यह प्रवृत्ति है यह मैं पहले दिखा चुका हूँ।

इस प्रकार की कविता में ध्यान देने की बात यही है कि जिस तथ्य का ग्रहण कवि करता है वह उस प्राकृतिक रूप-व्यापार से सहज ही निकलता जान पड़े। उसमें किसी प्रकार की दूरारूढ़ योजना अथवा क्लिष्ट कल्पना न हो अर्थात् कवि को तथ्यों का आरोप अपनी ओर से न करना पड़े। अन्यथा वे केवल सूक्ति होंगे, काव्य नहीं। जहाँ तथ्य केवल आरोपित या संभावित रहते हैं वहाँ वे अलंकार-रूप में ही रहते हैं। विशेष विशेष रूपों, चेष्टाओं और परिस्थितियों से ही तथ्य-चयन करना चाहिए।

लक्षणाओं का प्रचुर प्रयोग नई रंगत की कविताओं की सबसे बड़ी विशेषता है। लक्षणा द्वारा प्रतीकों की भी सिद्धि होती है। कोई विशेष वस्तु या व्यापार किसी भाव का प्रतिनिधि-स्वरूप मान लिया जाता है। यही प्रतीक कहलाते हैं। यह कहा जा चुका है कि प्रतीकों का प्रयोग भारतीय काव्य में अलंकारों की प्रणाली के भीतर किया गया है। फिर भी वे रूपक, उपमा आदि से भिन्न हैं। प्रतीकों में सादृश्य अथवा साधर्म्य की आव-

श्यकता नहीं होती। भाव को जाग्रत् कर देने की शक्ति ही उनकी अच्छाई की कसौटी है। उपमानों का प्रयोग काव्य में इसी लिए किया जाता है कि भाव-व्यंजना को उत्कर्ष प्राप्त हो। अतएव उपमानों में प्रतीकत्व होना आवश्यक है। सच्ची परखवाले कवियों के उपमानों में सदैव प्रतीकत्व पाया जायगा। प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों में ऐसे उपमान अनेक मिलेंगे जिनमें प्रतीकत्व है। नए कवियों ने इसका पूर्ण उपयोग किया है और उनके उपमान प्रायः प्राकृतिक रूपों और व्यापारों से लिए हुए तथा प्रतीकवत् प्रयुक्त होते हैं। स्वर्गीय स्वनामधन्य श्रीयुत जय-शंकर 'प्रसाद' का आँसू नामक काव्य इस बात का बहुत अच्छा उदाहरण है। उसमें प्राकृतिक रूप-व्यापार व्यंजना के साधन बनाए गए हैं। यद्यपि ये रूप-व्यापार परंपरा-प्राप्त ही हैं। परंतु कवि ने उनकी इस नूतन ढंग से योजना की है और उन्हें ऐसे ऐसे तथ्यों की समानता में रखा है कि उनमें नवीन व्यंजना आ गई है। अप्रस्तुतों की योजना प्रभावसाम्य को लेकर की गई है और ऐसे अप्रस्तुत प्रायः प्रतीकवत् होते हैं।

श्रीयुत सुमित्रानंदन पंत भी इस युग के दूसरे प्रतिनिधि कवि हैं। उनका 'पल्लव' प्रतीकों के प्रयोग का अच्छा उदाहरण है। उनमें यह प्रवृत्ति 'प्रसाद' से अधिक है। शब्दों के लक्ष्य और व्यंग्य अर्थों में प्रयुक्त करने का साहस उनमें 'प्रसाद' से अधिक है। परंतु जहाँ पर ऐसे प्रयोग अँगरेजी के आधार पर किए गए हैं वहाँ वे दुस्साहस मात्र हो जाते हैं और खटकते हैं; जैसे 'विचारों में बच्चों की साँस Innocent Breath स्वर्णभृंग', स्वर्ण समय आदि। इसी प्रकार गुंजन में एक स्थान पर संध्या का प्रयोग उदासी के प्रतीक स्वरूप हुआ है। संध्या अंगरेजी में उदासी का प्रतीक मानी जाती है; हमारे यहाँ तो वह आनंदप्रद

ही है। 'प्रसाद' में यह दोष नहीं है। 'प्रसाद' की योजना प्रायः सादृश्य और साधर्म्य को लेकर ही चली है।

इधर कुछ दिनों से हिंदी कविता में फारसी काव्य के रूढ़ प्रतीकों शराब-प्याला आदि का भी प्रयोग प्रतीकवत् होने लगा है। यह उचित नहीं और संस्कृति के विरुद्ध है। मधुप और मुकुल भी आजकल की कविता में प्रेमी प्रिय के लिए रूढ़ हो गए हैं। प्रकृति का अपार क्षेत्र खुला है। आँखें खोलकर देखने से अनेक प्रतीक मिल जाँयगे। कोई वस्तु रूढ़ क्यों होने पाए ?

षष्ठ प्रकरण

उपसंहार

पिछले प्रकरणों में कई स्थान पर कहा जा चुका है कि हमारे भारतीय आचार्यों ने प्रकृति को उद्दीपन में ही स्थान दिया। आलम्बन के रूप में उसके ग्रहण का निर्देश नहीं किया है। अतएव प्रकृति-वर्णन द्वारा रसोद्रेक नहीं माना जाता, क्योंकि रसोद्रेक आलंबन द्वारा ही संभव है। परंतु प्रश्न यह है कि क्या प्राचीन कवियों ने वन, उपवन, पर्वत, ऋतु आदि का वर्णन शृङ्गार के उद्दीपन के रूप में ही किया है? क्या वे नायक और नायिका को केवल हँसाने या रुलाने के लिए हैं? क्या आदिकवि का हेमन्त और वर्षा-वर्णन, कालिदास का वन, समुद्र, हिमालय-वर्णन, भवभूति का दण्डक और पंचवटी वर्णन इसी उद्देश्य से किया गया है? मालूम तो ऐसा नहीं होता। ये वर्णन प्रसंग-प्राप्त हैं और आलंबन के चारो ओर को परिस्थिति और वातावरण को दिखलाते हैं। इनसे अलग होकर आश्रय और आलंबन अधर में लटके जान पड़ते। दूसरे यदि उद्दीपन ही इष्ट था तो फिर संश्लिष्ट चित्रण करने और बिंब-ग्रहण कराने की क्या आवश्यकता थी? नाम गिनाकर अर्थग्रहण करा देना ही पर्याप्त होता।

प्रकृति-वर्णन में रस

फिर क्या कारण है कि प्रकृति को आलंबन में स्थान नहीं मिला और उसके द्वारा रसोद्रेक नहीं माना गया। बात यह है

कि रीतिग्रंथों के कारण रसदृष्टि परिमित हो गई थी। अतएव रस के संयोजक विषयों में से "कुछ तो उद्दीपन में डाल दिए गए और कुछ भाव-क्षेत्र से ही निकाले जाकर 'अलंकार' के हाते में हाँक दिए गए। उदाहरणार्थ 'स्वभावोक्ति' अलंकार को लीजिए। लड़कों का खेलना, चीते का पूँछ पटक कर झपटना, हाथी का गण्ड स्थान रगड़ना" आदि स्वाभाविक क्रियाएँ हैं। इन सबकी गिनती 'स्वभावोक्ति' अलंकार में की जाती है। परंतु ये वर्ण्य वस्तुएँ हैं। इन पर अप्रस्तुतों का आरोप किया जा सकता है। वात्सल्य भाव के प्रदर्शन में यदि बाल क्रीडा का वर्णन हो तो क्या वह अलंकार हो जायगा? प्रस्तुत अलंकार नहीं हो सकता। वह तो रस का संयोजक है।

कुछ अलंकार-भक्त प्रकृति-वर्णन को भी 'स्वभावोक्ति' कह बैठते हैं। परंतु उन्हें जानना चाहिए कि 'स्वभावोक्ति' अलंकारों की कोटि में आ ही नहीं सकती। अलंकार वर्णन करने की एक प्रणाली हैं। स्वभावोक्ति द्वारा वस्तु-निर्देश किया जाता है। वस्तु-निर्देश अलंकार का काम नहीं रस-व्यवस्था का विषय है। कदाचित् इसी कारण 'स्वभावोक्ति' का लक्षण-निरूपण भी ठीक नहीं हो सका है। 'काव्य प्रकाश' की कारिका में यह लक्षण दिया है—स्वभावोक्तिस्तु डिंभादेः स्वक्रिया रूप वर्णनम्। पहले तो 'डिंभादेः' पद की व्याप्ति की सीमा ही नहीं है। फिर बालक का ही उदाहरण लेकर विचार करें तो वात्सल्य में बालक का रूप-वर्णन आलंबन होगा और उसकी क्रियाएँ उद्दीपन के अंतर्गत आवेंगी। प्रस्तुत के रूप-क्रिया आदि के वर्णन रसक्षेत्र से अलकार क्षेत्र में नहीं घसीटे जा सकते। अन्य आचार्यों द्वारा किया

गया लक्षण-निरूपण भी ऐसा ही है। राजानक रुय्यक ने यह लक्षण दिया है—

सूक्ष्मवस्तुस्वभावयथावद्वर्णनम् स्वभावोक्तिः।

इसी प्रकार दण्डी ने यह लक्षण लिखा है—

नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा॥

इनमें से कोई भी लक्षण स्पष्ट नहीं है। कारण यही है कि 'स्वभावोक्ति' अलंकारों की कोटि में आती ही नहीं। यदि ऐसा होता तो प्रकृति के सारे सूक्ष्म निरीक्षण अलंकार हो जाते। उदात्त, अत्युक्ति आदि कुछ अन्य अलंकार भी इसी प्रकार अलंकार नहीं कहे जा सकते।

रससिद्धि जब विभाव, अनुभाव और संचारियों की भरती या गिनती में ही मानी जाने लगी तब कवियों ने आलंबन का चित्रण छोड़ दिया। वे भूल गए कि कविकर्म की सफलता ऐसे विषय उपस्थित करने में है जो श्रोता अथवा पाठक के भावों का आलंबन हो सके। काव्यों का प्रत्येक दृश्य श्रोता के भिन्न भिन्न भावों का आलंबन होता है। पात्रों से स्थायी भावों की व्यंजना करा देना ही रसपरिपाक नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि उससे श्रोता को भी रस की अनुभूति हो जाय। श्रोता या पाठक स्वयं उन भावों का अनुभव करने के लिए पढ़ता है, दूसरों के द्वारा उनका नाट्य देखने के लिए नहीं। अतएव ऐसे दृश्यों या विषयों को सामने उपस्थित करना ही कविकर्म की सिद्धि है जो श्रोता को रति, हास, शोक, क्रोध आदि का अनुभव करा सकें। हरिश्चन्द्र का शैव्या से कफन माँगना, राम, लक्ष्मण, सीता का वन के लिए प्रस्थान, पढ़कर ही लोग करुणा-सिक्त हो जाते हैं। शब्दों द्वारा यद्यपि कोई व्यंजना इन पात्रों से नहीं कराई जाती।

तुलसी के निम्नलिखित सवैये को पढ़कर न जाने कितने लोगों की आँखों में आँसू भर आता है—

कागर कीर ज्यों भूषन चीर सरीर लस्यो तजि नीर ज्यों काई।
मातु पिता प्रिय लोग सबै सनमानि सुभाय सनेह सगाई॥
संग सुभामिनि भाइ भलो दिन द्वै जनु औध हुते पहुनाई।
राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाई॥

(कवितावली)

कोई एक शब्द भी नहीं बोलता परन्तु पूर्ण रसपरिपाक हो जाता है। राम, परिस्थितियों के बीच उपस्थित किए गए राम, हमारे अन्तःस्थित करुण भाव के आलंबन हैं। इसी प्रकार यदि किसी चित्र में राम सीता की मूर्तियों के अतिरिक्त और कुछ न हो और दूसरे में "पयस्विनी के द्रुमलताच्छादित तट पर, पर्णकुटी के सामने वे बैठे हों, तो हम लोग दूसरे चित्र की ओर ही आकृष्ट होंगे। उन परिस्थितियों और दृश्यों के बीच में, जिनमें हम रहते हैं राम सीता को देखकर हम तादात्म्य का अधिक अनुभव करते हैं और साधारणीकरण पूर्ण रूप से होता है।

परंतु प्रकृति-वर्णन केवल अंग-रूप (Back Ground) से ही हमारे भावों के आलंबन-स्वरूप नहीं होते, स्वतंत्र रूप से भी होते हैं। वन, पर्वत, नदी-नाले, पशु-पक्षी आदि के प्रति हमारा प्रेम युग-युगादि से संचित है और परंपरा द्वारा चला आ रहा है। यह प्रेम स्वाभाविक है या कम से कम वासना के रूप में अन्तः-करण में निहित है। प्रेम दो प्रकार से प्रतिष्ठित होता है—रूप-सौंदर्यानुभव द्वारा और साहचर्य-संभूत। पहला सहेतुक अथवा वासनामय होता है और दूसरा हेतु-ज्ञान-शून्य। साहचर्य-संभूत प्रेम के कारण साधारण और सामान्य दृश्यों में भी अपूर्व माधुर्य

आ जाता है। यह अनुभव कुछ न कुछ प्रायः प्रत्येक मनुष्य को होगा ही। लड़कपन में जिस पेड़ के नीचे कभी हम खेला करते थे उसे बहुत दिनों पीछे देखने पर हमारी दृष्टि उस पर कुछ देर अवश्य थम जाती है। हम प्रेम से उसकी ओर देखते हुए उसके जीर्ण या बूढ़े होने की बात लोगों से कहते हैं। जिस कुत्ते ने कभी बहुत से कामों में हमारा साथ दिया था उसकी याद हमें कभी कभी आया करती है। जो बिल्ली कभी कभी जाड़े की धूप में हमारी छत के मुड़ेरे पर लेटकर अपना पेट चाटा करती थी उसके बच्चे को हम कुछ प्रेम के साथ पहचानते हैं। जिन झाड़ियों को हम अपने जन्मग्राम के पास के नाले के किनारे देखा करते थे उन्हें किसी दूर देश में पहले पहल देखकर उनकी ओर कम से कम मुड़ जरूर जाते हैं। पशु भी बदले में प्रेम करते हैं। राम के वन जाने पर उनके प्यारे घोड़ों का हींसना, कृष्ण का मथुरा चले जाने पर गायों का हूंकना, कवियों ने भी कहा है। तपोवन से प्रस्थान करते समय शकुंतला की आँखों में अपने पोसे हुए मृगछौने और सींच सींचकर बढ़ाए हुए पौधों को देखकर भी कुछ आँसू आए थे।

इसी प्रकार रूपसौंदर्यमय प्रकृति के दर्शन या काव्य आदि में प्रदर्शन से भी हमारी आभ्यंतर प्रकृति का अनुरंजन होता है। इस अनुरंजन को किसी दूसरे भाव का आश्रित या उत्तेजक नहीं कहा जा सकता। "लहराते हुए हरे भरे जंगलों, स्वच्छ शिलाओं पर चाँदी से ढलते हुए झरनों, चौकड़ी भरते हुए हिरनों, और झुक कर जल को चूमती हुई डालियों पर कलरव कर रहे विहंगों" को देखकर कौन मुग्ध न हो जायगा ? "पल्लव गुंफित पुष्प हास में, पत्तियों के पत्तजाल में, सिंदूराभ सान्ध्य दिगंचल के हिरण्य-मेखला-मंडित वन खंड में, तुषारावृत तुंग गिरिशिखर में, चंद्र-

किरण से झलझलाते निर्झर में, और ऐसी ही न जाने कितनी वस्तुओं में हम सौंदर्य की झलक पाते हैं।

जितने भी पदार्थ हमारे किसी न किसी भाव के आलंबन हो सकते हैं, उन सबका वर्णन रस के अंतर्गत मानना चाहिए। भाव-ग्रहण भी रस-ग्रहण के समान होता है। केवल दाम्पत्य रति में ही रति भाव का इस दशा तक पहुँचना मानना रसदृष्टि को संकुचित करना है। भावों के आलंबन का चित्रवत् वर्णन करने में भी कविकर्म की सफलता है। आलंबन मात्र का सजीव, विशद वर्णन भी श्रोता या पाठक को रसमग्न अथवा भावमग्न—रसानुभव और भावानुभव में कोई विशेष अन्तर नहीं है—करने के लिए पर्याप्त है। आश्रय-स्वरूप पात्र की कल्पना करके, उसे उस भाव का अनुभव करता हुआ हर्ष से नाचता हुआ या विषाद से रोता हुआ, प्रदर्शित करने की आवश्यकता नहीं। रसानुभव किसी पात्र द्वारा उसके प्रत्यक्षीकरण की अपेक्षा नहीं करता। यदि किसी के द्वारा व्यक्त होने में ही रसानुभव होता तो आज हिंदी साहित्य का एक अंग ही लुप्त हो गया होता। नायिका-भेद और नखशिख के पचासों ग्रंथ दीमक खा गई होती, कोई उन्हें पूछता नहीं। एक में शृङ्गार रस के आलंबन मात्र का और दूसरे में उस आलंबन के भी एक एक अंग मात्र का अलग अलग वर्णन होता है। परंतु काव्य-रसिकों के लिए वह भी आनंद-सुधा-निधि है। इसी प्रकार केवल प्राकृतिक दृश्य-वर्णन ही, चाहे उसमें कवि अथवा पात्रों के भावों का सन्निवेश हो या न हो, शुद्ध और सच्चा काव्य है। यक्ष की कथा अलग कर देने पर भी 'मेघदूत'—विशेषकर पूर्वमेघ—का काव्यत्व बना रहेगा। कुमारसंभव का हिमालय-वर्णन मुख्य काव्य से अलग होकर भी उच्चकोटि के काव्य में परिगणित होगा।" जो

प्राकृतिक दृश्यों को केवल कामोद्दीपन की सामग्री समझते हैं, उनकी रुचि भ्रष्ट हो गई है और संस्कार-सापेक्ष है।"

इस विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा कि प्राकृतिक दृश्य हमारे भावों के आलम्बन हैं। अनेक सुंदर प्राकृतिक दृश्यों को देखकर हम हर्षित होते हैं। हर्ष एक संचारी भाव है। इससे स्पष्ट है कि उसके मूल में रतिभाव वर्तमान है। वह रति भाव और किसी के प्रति नहीं सीधा उन्हीं दृश्यों के प्रति होता है। अतएव यह मानना पड़ेगा कि प्रकृति-वर्णन में रस अवश्य होता है, चाहे उसे हम शृङ्गार रस के अंतर्गत मानें, चाहे किसी अन्य नाम से पुकारें।

अब तक जो कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट हो गया होगा कि काव्य में प्रकृति-वर्णन का क्या स्थान है। यह भी दिखाया जा चुका है कि काव्य में आलम्बन ही मुख्य है। यदि कवि अपनी वाणी द्वारा ऐसे वस्तु-व्यापार हमारे सामने चित्रवत् उपस्थित कर देता है, जो हमारे अन्तःस्थित भावों को जागरित कर दें तो उसकी वाणी सिद्ध है, वह सफल कवि है। संसार में मनुष्य ही सब कुछ नहीं है। उसके रूप-व्यापारों के अतिरिक्त अपर नैसर्गिक रूप-व्यापार भी संसार में हैं और उनमें भी अपना निज का सौंदर्य एवं भावोद्बोधन की शक्ति है।

अन्य काव्यों में प्रकृति-वर्णन का स्थान

प्रकृति ऐसी ही वस्तु है। उसका अपना रूप है, अपना माधुर्य है और अपना संदेश है। मनुष्य और उसकी भावनाओं के संबंध में ही प्रकृति को देखा तो क्या देखा? स्वयं उसके सौंदर्य पर मुग्ध होना मनुष्यता और सहृदयता का परिचय देना है। संसार की प्रत्येक भाषा में ऐसे काव्य पाए जाते हैं जिनमें केवल वस्तु-व्यापार-वर्णन है। किसी आश्रय की योजना नहीं की गई है। हम रस या

भाव का आस्वादन उनसे अपने आप कर लेते हैं। क्या ऐसे चित्र-काव्य नहीं हैं? क्या शब्द-चेष्टा द्वारा किसी को भाव प्रकट करके दिखाना ही काव्य है? प्रसंग से निःसंग होकर भी क्या वाल्मीकि के वर्षा, हेमन्त, शरद् आदि के वर्णन में काव्यत्व नहीं है। कुमारसंभव के प्रथम सर्ग में हिमालय वर्णन वाले श्लोकों को क्या कोई काव्य से खारिज कह सकता है? मेघदूत में आम्र-कूट, विन्ध्य, रेवा सिप्रा, वेत्रवती आदि के वर्णन में क्या यक्ष की विरह-व्यथा ही व्यंग्य है? यदि नैषध और शिशुपालवध के प्रभात, सन्ध्या आदि वर्णन काव्य कहे जा सकते हैं तो ये अवश्य कहे जा सकते हैं। इतना ही नहीं मेरा तो विचार है कि यदि वे कलाबाजियाँ काव्य हैं, तो ये किसी उच्चतर नाम के अधिकारी हैं।

खेद है कि हमारे आजकल के हिंदी कवि इस ओर ध्यान नहीं देते। आधुनिक काल के आरंभ में कुछ सहृदय कवियों ने हिंदी-साहित्य की इस बड़ी भारी कमी को पूर्ण करने का सफल किन्तु स्वल्प प्रयास किया था। आशा थी कि नवीन युग में इसे कुछ विकास प्राप्त होगा। परंतु कदाचित् नवीनता की झोंक में हमारे कवियों ने भारतीय साहित्य की इस पुरानी चीज का पुनरुत्थान आवश्यक न समझा। उन्हें योरप की नकल से ही फ़ुरसत नहीं है, फिर इस ओर दृष्टिपात कौन करे। दूसरे हम लोग प्रकृति से इतनी दूर हो गए हैं कि उसके सौंदर्य का अनुभव कर ही नहीं सकते। इसके लिए आधुनिक सभ्यता उत्तरदायी है। यह सभ्यता स्वार्थमय है। अपने ही सुख-दुःख, हानि-लाभ, कल्याण-कष्ट, आशा-निराशा आदि से हमें छुट्टी नहीं है, दूसरी ओर कौन नजर उठा कर देखे। हमारा सारा अनुभव "बिजली से जगमगाते हुए नए अँगरेजी ढंग के शहरों में धुँआ उगलती हुई मिलों और ह्वाइटवे लेडला की दूकानों" तक ही परिमित रहता है।

"पलाश, इंगुदी, अंकोट बनों में अब भी खड़े हैं, सरोवरों में कमल अब भी खिलते हैं, तालाबों में कुमुदिनी अब भी चाँदनी के साथ हँसती है, वानीर शाखाएँ अब भी झुकझुक कर तीर का नीर चूमती हैं" अस्तोन्मुख दिवाकर अब भी मेघ-खण्डों को अपने अनुराग से रंजित करके सान्ध्य गगन में झिलमिल प्रकाश के अनेकानेक चित्र उरेहता है, स्वर्णिम ऊषा अब भी हिमाच्छादित पर्वत शृंगों पर अपने करों से इन्द्रधनुष बनाती हुई ताल के पद्म-जाल को स्फुट करती है, अतलतल जलधि की गंभीर घोष करती हुई पर्वताकार गगनचुंबी ऊर्मि-माला तट से टकराकर अब भी फेनिल फूल बरसाती है, "पर हमारी आँखें उनकी ओर भूल कर भी नहीं जातीं, हमारे हृदय से मानों उनका कोई लगाव ही नहीं रह गया।" सिप्रा के किनारे उज्जयिनी के खँडहर अब भी पड़े हैं, पहाड़ियाँ अब भी उनके चारों ओर फैली हैं। सूर्यास्त के समय उनपर अब भी वही छटा बरसती है जो कालिदास के समय में बरसती थी। काली शिलाओं पर से बहती हुई वेत्रवती की स्वच्छ धारा के तट पर विदिशा के खँडहरों में वे ईंट पत्थर अब भी पड़े हुए हैं, जिनपर अंगराग लिप्त शरीर और सुगंध धूप से बसे हुए केश-कलाप वाली रमणियों के हाथ पड़े होंगे। परंतु हम उनकी ओर से उदासीन हैं, आँख उठाकर देखते तक नहीं।

क्या हमारे हिंदी के कवि कल्पनावाद, रहस्यवाद, प्रतीकवाद, छायावाद, अभिव्यंजनावाद आदि अनेक आडम्बरवादों और प्रवादों को छोड़कर सब वादों के समन्वय सहृदयतावाद की ओर कभी कभी, भूल कर ही सही, ध्यान देंगे ?

———

अनुक्रमणिका

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	२१	अन्तर	आन्तर
२	२३	अन्तर	आन्तर
३	२	अन्तर	आन्तर
३	२१	कक्ष	पक्ष
४	१	कक्ष	पक्ष
४	७	कक्ष	पक्ष
५	१	सारा	हमारा
५	१५	दृढ़	दृढ़ हैं
६	२४	पड़ते	बहते
७	१५	आपका जीवन	इसके बिना आपका जीवन
६	६	निहारिका	नीहारिका
१३	१५	सकता	सकती
१३	१५	करता	करती
१३	१८	सकता	सकती
१३	१९	सकता	सकती
१६	१४	प्रातकृति	प्रतिकृति
२३	४	के	की
२३	५	पाया	पिया
२७	१	बनाई	बनाया
३४	३	छन्द	इस छन्द
३४	१४	उद्दीपन	उद्दीप्त

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३४	२०	परिणाम	परिगणन
४५	२	आनन्द	अनुराग
४६	७	बसहि	बरहि
४८	१	पंथी पंथी	पंथी पंछी
४८	११	बादल	नादत
४९	१२	चिप	चित्त
४९	२०	का ही	का ही सूचक होता
४९	२१	एक सूचक होता	एक
५०	२१	सोहावत	सोहावन
५६	१२	यह कहना	यह कहना कि
६०	६	पुज्यारी	उज्यारी
६१	१२	भाँति भाँति	भाँतिन भाँतिन
६२	८	उभै	उनै
६३	९	पर साँप	ऊपर साँप
६४	१	अप्राकृतिक	प्राकृतिक
६८	अंतिम	प्रभाव	प्रमाण
६८	अंतिम	पर	में
६९	२	बाद	वाद
७१	७	कविता	कवियों
७२	अंतिम	All	And
७३	३	Intimaitations	Intimations
७३	१२	अनीमा पोयटिक	एनिमा पोयटे
७३	१२	Anima Poetic	Anima Poetae
७४	११	then	these
७४	१३-१४	signification	significations

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
७५	१२	सामाजिक	स्वाभाविक
७७	२४	विश्व-बाजीगर-ली	विश्व-बाजीगर-थैली
७९	३	लिये	लिपे
८१	१०	करते	झरते
८१	११	नभ	भू
८२	५	देता	देता है
८४	३	लखत	लखत
८५	८	चलायो	जलायो
८५	२५	दिगराज	दिनराज
८६	१	बन्धुओं	वधुओं
८६	२	चलती	चलनी
९५	१४	कवि	शशि
९६	२१	भेंड़	भिड़
१०१	१	इसके	रस के
१०३	५	वस्तुओं	वस्तु
१०३	८	साध्य	सान्ध्य
१०३	१३	वरार्य	वरार्थ
१०३	२५	मिली मिलाई	गिनी-गिनाई
१०७	१४	पहले	परन्तु
१०७	१५	फेहरिश्त	फेहरिस्त
१०८	११	सास्त्वे	सारत्वे
१०८	अन्तिम	ऋतु-वर्णन होकर	ऋतु-वर्णन न होकर
११०	८	मन में होता	मन में उत्पन्न होता
११०	२४	प्रयत्न	ध्यान
१११	३	आ सकी	आएगी

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११२	१	उसी	उनकी
११२	१३	स्पष्ट	स्पृष्ट
११२	२५	व्यंग्य तथ्यज्ञान	व्यंग्य तथ्य ज्ञात
११४	१२	यदि	चाहे
११६	२३	वीर्य विलास	वीचि-विलास
१२१	७	प्रतीकत्व	प्रतीकत्व
१२३	२	दिया	दिया है
१२७	१३-१४	कृष्ण का	कृष्ण के